प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 24, अंक 2
जुलाई, 2010

वर्ष 24 अंक 2 जुलाई, 2010

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान–सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा : प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

परामर्शदाता

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, एम 2/4, विश्वविद्यालय परिसर, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन–456010
2. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
3. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–96

प्रधान-सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006 दूरभाष 2294727/2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Print)

वार्षिक शुल्क	आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/–	व्यक्तिगत : रु. 1000/–
संस्थाएं : रु. 100/–	संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

अनुक्रमणिका

1. स्वातंत्र्य की अभीप्सा और सृजन — *यशदेव शल्य* — 1

2. शल्य जी की चित् की आत्मगवेषणा — *मुकुन्द लाठ* — 11

3. मूलगामी भारतीय नैतिक दृष्टि — *अम्बिकादत्त शर्मा* — 45

4. भारतीय दर्शनों में वेदापौरूषेयत्ववाद — *नारायण शास्त्री द्राविड़* — 64

5. प्रमाण, तर्क और अनुमान का अन्तःसम्बन्ध — *सच्चिदानन्द मिश्र* — 74

6. पुस्तक–समीक्षा — *वरूण कुमार त्रिपाठी* — 111
   क्या है ? क्या नहीं है ?
   एक दार्शनिक संवाद : मुकुन्दलाठ

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	--	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
5.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
6.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
7.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
8.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

स्वातंत्र्य की अभीप्सा और सृजन

यशदेव शल्य

किसी देश या जाति में सृजनात्मकता का आविर्भाव क्यों और कैसे होता है, इसका कारण कोई आज तक नहीं जान पाया। कम से कम यह कारण स्वतंत्रता की अभीप्सा नहीं होता, यह निस्संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। हमारे सुदूर अतीत में आर्य जाति में वेदों के रचनाकाल से आरंभ होकर महात्मा बुद्ध के काल तक, बल्कि कहें सम्राट् अशोक के काल तक, एक अद्‌भुत सृजनात्मकता दिखायी देती है। जो आज तक इस देश के बहुसंख्य समाज की सांस्कृतिक प्रतिष्ठा बनी हुई है। यदि रामायण–महाभारत को पीछे के काल की रचनाएँ मानें तो यह काल–खंड और आगे तक जाता है। यह दो हजार वर्ष से भी अधिक का दीर्घकाल है। इस सृजनात्मकता का कोई संबंध स्वातंत्र्य की अभीप्सा से नहीं कहा जा सकता। यही बात उन दूसरी महान सभ्यताओं के लिए भी कहीं जा सकती है जो विभिन्न समाजों में उदित हुई और कम या अधिक अवधि तक उन समाजों में बनी रहीं। इसके विपरीत दूसरे बहुत से समाज हैं जो सृजनात्मकता से विहीन रहे और आज तक उसी आदिम अवस्था में पड़े हैं। इधर रोम के पतन के बाद यूरोप में 17वीं शताब्दी के बाद सृजनात्मकता का जो विस्फार हुआ, रूस में 19वीं से 20वीं शताब्दी के आरंभिक कुछ वर्षों तक जो महान उपन्यासकारों और वैचारिक आन्दोलनों का आविर्भाव हुआ उसका भी कारण स्वातंत्र्य की अभीप्सा को नहीं कहा जा सकता। हमारे ही देश में मुस्लिम राज्य की स्थापना के साथ एक अद्‌भूत सर्जनात्मक युग का भक्ति–धारा और भक्ति–काव्य के रूप में आविर्भाव हुआ किन्तु उस काल में यहाँ के समाज और धर्म पर हुए भयानक विध्वंसक प्रहारों ने भी कोई स्वातंत्र्य की अभीप्सा इस देश में उद्दीप्त नहीं की। इसका कारण यह कहा जा सकता है कि इन आक्रमणों और अत्याचारों से हमारे में कोई सांस्कृतिक या धार्मिक या राजनैतिक आत्मबोध उत्पन्न नहीं हुआ। अंग्रेजी राज्य–स्थापना के बाद भी भारत में सर्वप्रथम राजकीय पराजय और पराधीनता से उबरने की

अभीप्सा के बजाय एक सांस्कृतिक नवजागरण ही दिखायी देता है और यहाँ का प्रबुद्ध वर्ग अंग्रेजी राज्य को वरदान के समान देखता दिखायी देता है। इस प्रकार इस काल में भी हमारे देश में कोई स्वातंत्र्य की अभीप्सा दिखायी नहीं देती। दूसरी ओर विजेता आंग्ल देश ने इस देश को विजित तो किया, किन्तु वह तथा यूरोप के अन्य देश भी इसके अतीत के सांस्कृतिक समृद्धि से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे और यहाँ के दार्शनिक, धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रंथों का अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन भाषाओं में अनुवाद होना आरंभ हुआ। संस्कृत भाषा को यूरोपीय भाषाओं की जननी के रूप में पहचाना गया और इसका तथा यूरोपीय भाषाओं का भाषावैज्ञानिक अध्ययन आरंभ हुआ। इसी प्रकार भारतीय जनमानस भी यूरोप के विज्ञान से बहुत चमत्कृत हुआ और फिर अंग्रेजी भाषा के अध्ययन से वह वहाँ के साहित्य और दर्शन के संपर्क में आया और उसकी उत्कृष्टता से चमत्कृत हुआ। स्वयं यूरोप में भी यह युग सैन्य शक्ति के अद्भूत विस्फार के साथ–साथ राजनैतिक नवजागरण का, वैज्ञानिक विचारों और आविष्कारों का तथा दार्शनिक विचारों, साहित्यिक नवसंवेदनाओं और संगीत तथा अन्य कलाओं में नयी सृजनशीलताओं का था। इस प्रकार इंग्लैंड से और शेष यूरोप से भारत का साम्मुख्य मुसलमानों से हुए साम्मुख्य से सर्वथा भिन्न प्रकार का था। मुस्लिम आक्रान्ताओं के लिए भारतीय केवल पराजित किये जाने योग्य विधर्मी थे, जो केवल वध और लूटपाट के विषय ही हो सकते थे और भारतीयों के लिए वे विजयी दस्यु और निकृष्ट विधर्मी थे। मुगलों ने जबकि यहाँ के मन्दिरों और मूर्तियों का ध्वंस किया था, यूरोपीयों ने इन्हें उत्कृष्ट कला–कृतियों के रूप में देखा, अजंता और एलोरा जैसे कितने ही स्थल तो खोज कर हमें भी अपनी कला के प्रति गौरव का बोध इन्होंने ही दिया। अवश्य इनके धार्मिक नेता हिन्दू धर्म को अनादर की दृष्टि से ही देखते थे और हिन्दुओं को ईसाई बनाने का प्रयत्न करते थे, किन्तु ऐसा वे बलात् नहीं करते थे, और हिन्दू विद्वानों द्वारा इसाई धर्म के खण्डन का वे युक्ति से ही प्रतिकार करते थे, हत्या द्वारा नहीं। मुस्लिम देशों में तो आज भी किसी के द्वारा मुस्लिम धर्म की आलोचना मृत्यु–दण्ड से दंडनीय है। इसके विपरीत जब जर्मन विचारक हम्बोल्ट ने श्रीमद्भगवद् गीता का जर्मन भाषा में अनुवाद किया तो उसने उसे विश्व–साहित्य का महानतम दार्शनिक काव्य कहा और जर्मनी के तत्कालीन महानतम दार्शनिक हेगल ने उसकी विस्तृत (लगभग एक सौ पृष्ठ की)

भूमिका लिखी। अवश्य वह भूमिका खंडनात्मक ही थी, क्योंकि हेगल सामान्य रूप से ही भारतीय धर्म और दर्शन का आलोचक था, किन्तु तब भी उसकी इतनी विस्तृत आलोचना में उसके महत्त्व का स्वीकार भी निहित है। इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी के दार्शनिकों और कवियों द्वारा उपनिषदों की लगभग पूजाभाव से प्रशंसा स्वयं हमारी आँखें खोलने वाली थी और स्वामी विवेकानन्द को तो प्रायः उन्होंने ही हमें उपलब्ध कराया था, जब अमरीका की सर्वधर्म सभा में दिये गए उनके व्याख्यान की वहाँ के प्रमुख समाचार--पत्रों ने सर्वोत्कृष्ट व्याख्यान कहकर प्रशंसा की थी। इस व्याख्यान में उन्होंने प्राचीन भारतीय जीवन–दृष्टि की उत्कृष्टता ही बखानी थी। इसी प्रकार यूरोप के उत्कृष्टतम जर्मन कवि और चिन्तक गोएथे ने कालिदास के अभिज्ञान शांकुतलम् की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। सच पूछा जाय तो हम जो अपने अतीत को महान मानते हैं उसकी महत्ता का ज्ञान कराने में हमें यूरोप ने सहयोग ही दिया, भले ही इसमें कहीं–कहीं उनके अपने पूर्वाग्रह भी जुड़े रहते थे। उनके ये पूर्वाग्रह भी हमारे लिए इस मायने में हितकर ही थे, क्योंकि वे हमें उनका प्रतिकार करने के लिए प्रेरित करते थे और इस प्रकार अपनी खोज और समालोचना को प्रेरित करते थे। श्री अरविन्द की दि सीक्रेट ऑफ दि वेदाज और फाउंडेशंस् ऑफ इंडियन कल्चर तथा कुमार स्वामी के अनेक ग्रंथ इसी प्रकार के प्रतिकार में लिखे गए। इस उदीयमान् और उदार यूरोप से हमारे संपर्क ने स्वभावतः हमें अभिभूत किया, किन्तु इसने हममें केवल अभिभव और आत्महीनता का भाव ही जागृत नहीं किया बल्कि अपने अतीत के बल पर आत्मगौरव का भाव भी दिया। किन्तु अपने वर्तमान के प्रति इसका प्रभाव हममें मिश्रित ही मिलता है। साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में इसने सृजनात्मकता को और राजनीति के क्षेत्र में अपनी खोई प्रतिष्ठा पुनः पाने को प्रेरित किया, और सबसे बढ़कर, किसी भी जाति के लिए गौरवास्पद अनेक नेता दिये। किन्तु विचार के क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानंद, श्री अरविन्द और डॉ. भगवानदास एवं लोकमान्य तिलक, और सबसे बढ़कर महात्मा गाँधी के विरासत के बावजूद हमने पूरी तरह यूरोप को आत्मसमर्पण कर दिया। इसका कारण विशेष रूप से हमारी शिक्षण–संस्थाएं बनीं।

जबकि धर्म, राजनीति, साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में इस संपर्क ने सृजनात्मकता को प्रेरित किया था और इन क्षेत्रों में पश्चिम के प्रभाव को

हमने अपनी भूमि पर खड़े होकर ही ग्रहण किया था, जिस प्रकार पश्चिम के विचारकों और साहित्यिकों ने उपनिषदों और बुद्ध के प्रभाव को अपनी धरती पर खड़े होकर सृजनात्मक रूप से ग्रहण किया था, विचार के क्षेत्र में हममें यह सृजनात्मकता दिखायी नहीं देती। संभवतः इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण भाषा बनी, और यह भी कि विचारक वर्ग अंग्रेजी शासन द्वारा स्थापित या फिर उसी प्रारूप में स्थापित विश्वविद्यालयों के माध्यम से आया। विश्वविद्यालयों में विचार पश्चिम का ही मुख्यतः पढ़ाया जाता था, और जो भारत का भी पढाया जाता था वह अंग्रेजी भाषा के माध्यम से और अंग्रेजों के द्वारा ही प्रस्तुत किया गया होता था। किन्तु संभवतः इसे ही एकमात्र कारण नहीं कहा जा सकता। हमारे देश में अंग्रेजों के आने से पहले भी कई शताब्दियों से कोई नया विचार नहीं हो रहा था, पिछले विचार का पिष्टपेषण ही हो रहा था। इसी से संस्कृत पाठशालाओं के पंडित वर्ग में कोई वैचारिक हलचल दिखायी नहीं देती। इस नयी परिस्थिति में भी जो नया विचार राजा रामामोहन राय और स्वामी विवेकानंद और श्री अरविन्द में दिखायी देता है, वह यूरोप की प्रतिक्रिया में ही। यही बात लोकमान्य तिलक के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इन तीनों की विचार की भाषा अंग्रेजी ही थी, इसी क्रम में महात्मा गांधी आते हैं, जो यूरोप में शिक्षित होने पर भी मूलगामी रूप से पारंपरिक किन्तु उतने ही मूलगामी रूप से आधुनिक थे। यद्यपि वे विचारक नहीं होकर कर्म–चेता थे, किन्तु उनकी दृष्टि अद्भुत रूप से मूलगामी और भारतीय परंपरारूढ़ होते हुए भी परंपरा के फल्गु को छोड़कर सार–ग्राही और आधुनिक थी। आधुनिक इसलिए क्योंकि वह नये युग की विद्रूपता के उपचार के रूप में उपजी थी। वह दृष्टि उसी प्रकार भारतीय समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की आधार हो सकती थी जिस प्रकार प्राचीन भारत में उपनिषद् और गीता, तथा बुद्ध और महावीर की दृष्टियाँ शास्त्रों की आधार बनीं थीं। किन्तु वह नहीं बनी। ऐसा नहीं बनना ही इस बात को दर्शाता है कि इस काल के भारत में विचार–ऊर्जा का अभाव था। विचार के क्षेत्र में नये अवतारों ने यूरोप को ही अपना नेता माना और अपने को केवल उसके व्याख्याकारों की भूमिका में ही रखा, जिसकी भूमि भी स्वभावतः पश्चिम के व्याख्याकरों की भूमि से नीचे के स्तर की ही हो सकती थी। इनमें जो प्राचीन भारतीय दर्शन की ओर भी गए, उसमें भी अधिकांशतः पश्चिम का चश्मा पहन कर ही व्याख्याकार बने, किन्तु वहाँ भी मात्र व्याख्याकार ही।

अवश्य संस्कृत और हिन्दी के अध्यापक पश्चिम के प्रभाव से अछूते थे, किन्तु वे भी केवल व्याख्याकार ही रहे और अधिकांशतः घटिया ही। दर्शन के इन अध्यापकों ने या तो पाश्चात्य आदर्शवादी दार्शनिकों–कांट, हेगल और ब्रैडले आदि–पर व्याख्यात्मक लेखन किया या कांट, हेगल के साथ वेदांत को लेकर तुलनात्मक लेखन किया। यह परिस्थिति स्वतंत्रता के बाद बदल गई। अब हमारे ये अध्यापक अधिकांशतः आजीविका में अपनी योग्यताएँ बढ़ाने के लिए इंगलैंड और अमेरीका की ओर दौड़े और दो–एक अपवाद स्वरूप जर्मनी की ओर, और तब उन्हीं की भाषा बोलने में अपना गौरव देखने लगे। विचार के अन्य क्षेत्रों–राजनीति, अर्थ, समाज और मनोविज्ञान – इनमें तो हमने आरंभ से ही मान लिया था कि इनमें विचार का अधिकार केवल पश्चिम के विचारकों को ही है। इस आत्महीनता को किसी भी अर्थ में सृजन कहना और इसमें कोई स्वतंत्रता की अभीप्सा भी खोजना उपहासास्पद ही कहा जा सकता है। जो भी हो हमने राज्य स्तरीय स्वतंत्रता तो 1947 में पायी किन्तु इसमें हमने, गांधी जी के शब्दों में, गोरे साहिबों के स्थान पर भूरे साहिबों को ही अपना शासक बना लिया, और जहाँ तक उस स्वतंत्रता का सम्बन्ध है जो शासकीय स्वतंत्रता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है– आत्मा की स्वतंत्रता – उसे तो हमने स्वतंत्रता के बाद और पूरी तरह खो दिया। मैंने 1972 के लगभग अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के वार्षिक अधिवेशन में कहा था कि इधर जो 'समकालीन भारतीय दर्शन' नाम से अंग्रेजी में तीन संकलन–ग्रंथ बड़े विद्वानों के नेतृत्व में और उतने ही बड़े विद्वानों के सहयोग से प्रकाशित हुए हैं उन्हें भारतीय दर्शन–ग्रंथ कहने का कोई औचित्य नहीं है। वे भारतीय नागरिकों द्वारा अवश्य लिखे गए हैं किन्तु उनमें 'भारत का तत्त्व' कहाँ है ? इस पर तुर्रा यह कि उनकी भाषा भी भारतीय नहीं थी।

इस दार्शनिक परिस्थिति का निरूपण मैं ऊपर सांकेतिक रूप से कर चुका हूँ, और अपने अन्यान्य लेखनों और व्याख्यानों के द्वारा समय–समय पर पहले भी करता रहा हूँ। किन्तु इससे उबार का रूप क्या होना चाहिए इसके लिए यहाँ मैं भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–परंपराओं के मूर्धन्य विद्वान प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र जी पांडे के द्वारा प्रस्तुत आधुनिक भारतीय दार्शनिक परिस्थिति के संक्षिप्त विवरण का सहारा लूंगा (समसामयिक भारतीय संस्कृति–पृ.99)। उनके अनुसार पश्चिमी आदर्शवादी दार्शनिकों के" प्रत्ययों और युक्तियों को पारंपरिक भारतीय दार्शनिक युक्तियों से समन्वित कर

अनेक भारतीय दार्शनिकों ने रचनाएँ की हैं। इनमें के.सी. भट्टाचार्य, अनुकूल चंद्र मुखर्जी, गोपीनाथ भट्टाचार्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ भारतीयों ने इस युग में पश्चिमी दार्शनिक प्रस्थानों और पद्धतियों पर लिखकर ख्याति अर्जित की है। इनमें हीरालाल हलधर, जड़ावलाल मेहता, रासबिहारी दास, जे.एन. मोहन्ती आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ भारतीय दार्शनिकों ने पश्चिमी दर्शन से आरंभ कर स्वतंत्र दर्शन की रचना की है, जैसे यशदेव शल्य। कुछ दर्शन को अन्य ज्ञान–विधाओं के संदर्भ में विवेचित कर रहे हैं – जैसे देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय।'' परन्तु पांडे जी के इस निरूपण में एक संशोधन की आवश्यकता है। द्रष्टव्य है कि जो देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय आदि कर रहे हैं – अन्य ज्ञान – विधाओं के सन्दर्भ में दार्शनिक विवेचन – वह पूर्णतया पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसरण में ही है। उसमें उनकी अपनी कोई दृष्टि नहीं है। जहाँ तक यशदेव शल्य का सम्बन्ध है, इस रचनाकार ने किस प्रकार पाश्चात्य दर्शन के अनुसरण में दार्शनिक लेखन आरंभ किया, और इसके अनन्तर किस प्रकार उसने स्वतंत्र दर्शन–रचना आरंभ की उसका किंचित् विवरण देना प्रस्तुत प्रसंग में स्थाने होगा। 1970 के लगभग इस लेखक ने उपनिषद्, शंकर के ब्रह्मसूत्र भाष्य, ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका तथा वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि और प्रो. गोविन्दचंद्र जी पांडे कृत अपोहसिद्धि का अनुवाद और व्याख्या पढ़ी। पाश्चात्य दर्शन में भी अनुभववाद और अर्थक्रियावाद (प्रेग्मेटिज्म) के आगे कांट और उसके अनुयायी अंर्स्ट कासीरर को पढ़ा और पाया कि भारतीय दर्शन की दृष्टि पाश्चात्य दर्शन से कहीं अधिक गहरी है किन्तु उसका प्रतिपादन उसकी अपनी दृष्टि के मर्म के अनुकूल नहीं है। इसमें उसने श्री अरविन्द को भी अयुक्त पाया और तब उस दृष्टि के मर्म के योग्य पदावली का, जैसा उसने समझा, विकास करने का प्रयत्न किया। पाश्चात्य दर्शन–परम्परा से मुक्त अपनी इस नवीन दृष्टि से इसने जो पहला निबन्ध–संग्रह चिद्विमर्श के नाम से प्रकाशित किया उसे 'वैदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष' कहा। वैदान्तिक अनुभव के इस उन्मेष में यह नवता कैसी थी इसकी व्याख्या में इसने पुस्तक–परिचय में लिखा – ''इसमें वेदान्त–सिद्धान्त का विवेचन या उस सिद्धान्त का नवीन विधि से प्रतिपादन नहीं है, बल्कि उस अनुभव को बुद्ध्या समझने का प्रयत्न है जिसका औपनिषद ऋषियों ने प्रतिभतया और सन्त कवियों ने अनुभूत्या साक्षात्कार किया था। दर्शन के इस लेखक को एक बार भारत भवन ने

''भारतीय भाषा चिन्तन'' पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया था। इसी विषय पर व्याख्यान देने के लिए दो और विद्वान भी आमंत्रित थे। उनके विपरीत इसने अपना व्याख्यान इन शब्दों के साथ आरंभ किया – ''भारतीय से अर्थ प्राचीन भारतीय लिया जाता है और आधुनिक से अर्थ लिया जाता है जो आज के पाश्चात्य चिन्तक प्रतिपादित कर रहे हैं। आज के भारतीय की इतिकर्त्तव्यता केवल इन दो के विचारों को प्रस्तुत करना ही मानी जाती है। किन्तु मैं ऐसा नहीं मानता। मैं यह मानता हूँ कि मैं आज का भारतीय हूँ और मुझे अपना विचार करने का अधिकार है।'' स्वभावतः मेरे पीछे भारतीय अतीत है जिसे समेटते हुए मैं भारतीय हूँ, किन्तु अपना विचार करते हुए मैं अपने अतीत से स्वतंत्र भी हूँ। सो मैं यहाँ भाषा विषयक अपने विचार ही प्रस्तुत करूंगा।'' इस प्रकार पांडेजी ने इस लेखक द्वारा जिस स्वतंत्र दर्शन–रचना की बात की है उसका यह अर्थ है। इस लेखक की दार्शनिक यह रचनायें उसी अर्थ में स्वतंत्र है जिस अर्थ में रवीन्द्र, बंकिम, शरच्चन्द्र, प्रेमचंद और छायावादी कवियों–उपन्यासकारों की रचनाएँ स्वतंत्र हैं। ये कवि और उपन्यासकार पश्चिम से परिचित थे किन्तु ये अपने अनुभव की भूमि पर खड़े थे और इनकी अपनी दृष्टि थी। ये रचनाएँ किसी भी अर्थ में अतीतोन्मुखी नहीं थीं और न किसी भी अर्थ में पश्चिमोन्मुख थीं, वे ऐसी नवीन थीं जो हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति की नयी जीवन्तता में प्रतिष्ठित थीं। दर्शन में इधर इसी प्रकार की रचनात्मकता दर्शन में दूसरे मार्ग से नये आये डॉ. मुकुंद लाठ प्रदर्शित कर रहे हैं। किन्तु चूँकि ये दोनों (यशदेवशल्य एवं मुकुंद लाठ) हिन्दी में लिख रहे हैं, जो विचार की भाषा होने योग्य नहीं मानी जाती, इसलिए इनकी ओर किसी का ध्यान नहीं है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वे पिछले 22 वर्ष से 'मानसिक हिन्द स्वराज की स्थापना' के उद्देश्य से एक दार्शनिक पत्रिका भी चला रहे हैं और इस दिशा में निष्ठापूर्वक संलग्न हैं, जबकि इसी से प्रेरित हो पिछली शताब्दी के तीसरे दशक के आरंभ में के.सी. भट्टाचार्य ने लिखा था कि विचार के लिए अपनी भाषा अपनाये बिना मानसिक स्वराज्य पाना संभव नहीं है। किन्तु तब भी श्री भट्टाचार्य अंग्रेजी में ही लिखते रहे। तब स्वाभाविक ही था कि वे वैचारिक स्वराज में प्रतिष्ठित नहीं हो पाये। यह ध्यातव्य है कि 'स्वराज्य' शब्द उन्होंने महात्मा गांधी के 1905 में लिखी भारतीय स्वतंत्रता के घोषणा–पत्र सरीखी लघु पुस्तिका ''हिन्द स्वराज्य'' से लिया था, जिसमें उन्होंने अंग्रेजी भाषा से मुक्ति को

अनिवार्य बताया था और उन्होंने अपनी इस घोषणा का निष्ठा से पालन किया था। यदि के.सी. भट्टाचार्य ने भी अपनी इस घोषणा में निष्ठा दिखायी होती तो निश्चय ही उसका कुछ स्वास्थ्यकर प्रभाव पड़ा होता। किन्तु उन्होंने यह निष्ठा नहीं दिखायी। उनकी यह बात तत्कालीन भारतीय मानसिकता की द्योतक थी। स्वतंत्रता से पूर्व यद्यपि हिन्दी और उसके साथ अन्य भारतीय भाषाओं को अपनाने का आदर्श बना रहा और गाँधी जी की प्रेरणा से दक्षिण के विभिन्न प्रान्तों में राष्ट्रभाषा प्रचार समितियाँ स्थापित हुईं, तब भी ये भाषाएँ वैचारिक लेखन की भाषाओं के रूप में नहीं अपनायी गईं। इसी से जब मैं 1952 में दर्शन के अध्ययन–लेखन की ओर अग्रसर हुआ तो मैंने पाया कि हिन्दी में एक भी पत्रिका नहीं है जिसमें इस विषय के लेख प्रकाशित हो सकें। एक 'समाज' नामक पत्रिका डॉ. संपूर्णानन्दजी के संपादन में उससे पहले आरंभ हुई थी किन्तु वह दो–तीन अंकों के प्रकाशन के बाद ही बंद हो गई। इस पर मैंने एक लेख लिखा कि हिन्दी को यदि भारत जैसे राष्ट्र की राष्ट्रभाषा होना है तो उसे विभिन्न शास्त्रों और विज्ञानों की भाषा भी होना होगा। और तब हिन्दी में दार्शनिक पत्रिका के प्रकाशन का संकल्प किया और इसके लिए अनेक हिन्दी संस्थाओं, प्रकाशकों और नेताओं तथा दर्शन के अध्यापकों से संपर्क किया। तब संपूर्णानन्द जी ने मुझे चेताया कि मैं ऐसा जोखिम नहीं उठाऊँ क्योंकि वे 'समाज' पत्रिका का आरंभ कर अपने दाँत तुड़ा चुके हैं। किन्तु मैंने तो छलाँग लगा दी और न केवल दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिका ही 1954 से 1982 तक चलाने में सफल रहा बल्कि अखिल भारतीय दर्शन परिषद् नामक संस्था स्थापित करने में भी सफल रहा, जो संस्था आज भी चल रही है और फलफूल रही है तथा दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिका का भी निरन्तर प्रकाशन हो रहा है। 1985 से मैंने एक दूसरी दार्शनिक पत्रिका 'उन्मीलन' नाम से आरंभ की जो आज भी चल रही है और इसका लक्ष्य 'मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक' निर्धारित किया। किन्तु खेद की बात है कि यह सब प्रयत्न जयशंकर प्रसाद के शब्दों में कहें तो 'हारी होड़' ही सिद्ध हो रहा है। दर्शन में आज भी अंग्रेजी के माध्यम से मरियल लेखन ही हो रहा है, सब शास्त्रों और विज्ञानों की संस्थाओं की भाषाएँ अंग्रेजी ही है, विश्वविद्यालयों में बाध्य होकर भारतीय भाषाएँ वैकल्पिक माध्यम के रूप में स्वीकार की गई हैं किन्तु उनके कार्य की भाषा आज भी अंग्रेजी ही है, और यह अंग्रेजी अब उससे कहीं अधिक बढ़ रही

है जितनी अंग्रेजी–शासनकाल में थी। आज प्राथमिक विद्यालयों में भी अंग्रेजी पढ़ायी जा रही है जबकि अंग्रेजी शसन में पाँचवीं कक्षा से आरंभ होती थी, हिन्दी माध्यम स्कूल निर्धन वर्ग के बच्चों के लिए ही रह गए हैं, और अपढ़ दादियाँ–नानियाँ आज बच्चों को सेब के बजाय 'ऐप्पल' और केले के बजाय 'बनाना' खिलाती हैं, हिन्दी के कम से कम कुछ अखबार हिन्दी के बजाय हिंगलिश का प्रयोग कर रहे हैं। ऐसे में कैसी स्वातंत्रता की अभीप्सा और कैसी सृजनात्मकता ? जो देश अपनी भाषा तक छोड़ने को तैयार है उसमें स्व की बात ही कहाँ रह जाती है जिस स्व का कोई तंत्र हो ? इधर इसके साथ आर्थिक कारण और जुड़ गए हैं – बाहरी कंपनियों के काल सेन्टरों में नौकरी के लिए हमें अंग्रेजी आनी चाहिए, कंपनियों की मैनेजरी के लिए अंग्रेजी चाहिए। यह अद्भुत तर्क है। इसने अब हमारे लिए उस धर्म को भी व्यापार बना दिया जिसमें पीछे हमने कुछ सृजनात्मकता दिखायी थी। स्वाध्याय आन्दोलन और गायत्री परिवार आन्दोलन के रूप में यह सृजनात्मकता धर्म के क्षेत्र में प्रकट हुई थी। इसी प्रकार रामकृष्ण परमहंस और रमण महर्षि से लेकर निसर्गदत्त जी और मंगतरामजी आदि तक अनेक अद्भूत सन्तों का आविर्भाव इस देश की आध्यात्मिक ऊर्जा की अजस्रता के रूप में प्रकट हुआ था, किन्तु अब उसमें भी योग योगा और राम रामा तथा कृष्ण कृष्णा के रूप में ही स्वीकृत हो रहे हैं। इधर इस देश के महाशक्ति के रूप में उभरने की बात हो रही है, किन्तु इस महत्ता की परिभाषा अर्थ और सैन्य बल ही हैं, कोई दृष्टि नहीं। जिस देश की संस्कृति उन महाकाव्यों पर टिकी है जिन्होंने मानव की शक्ति स्वर्ण–लंकापति और शक्तिशाली असुर सेनापति रावण में नहीं वनचारी राम में देखी थी और जिसने कर्म का बल निष्कामता में देखा था, आज भी जिसने विश्व का महानतम राजनीतिज्ञ एक सत्य–अहिंसा और त्याग की बात करने वाले महात्मा गाँधी के रूप में उत्पन्न किया था, वही देश आज दृष्टि–विवेक–हीन अर्थ और सैन्यबल में अपनी शक्ति खोज रहा है। इसी से हमारी राजनीति आज भ्रष्टाचारी, अवसरवादी, आत्मसम्मानविहीन, दृष्टि–हीन चाटुकारों का रंगमंच बन गई है और समाचार–पत्रों और वैद्युत समाचार–माध्यमों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिकेटर तथा नट–नटियाँ बन गए हैं। अभी पीछे एक खिलाड़ी ने दूसरे खिलाड़ी को थप्पड़ मार दिया तो यह कम से कम एक समाचार पत्र के लिए संसार की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना बनी और वैद्युत

माध्यमों के लिए यह तीन दिन तक लगभग एकमात्र चर्चा का विषय रही। ऐसे में यदि किसी दार्शनिक या साहित्यिक या कलाकार को समाचार माध्यमों में कभी स्थान मिलता ही है तो मानना चाहिए कि उसका कुछ अदार्शनिक–असाहित्यिक कारण ही हो सकता है। ऐसे में यदि कोई अच्छा विचारक, अच्छा सृजनात्मक प्रतिभा–सम्पन्न राजनीतिज्ञ हो तो उसे उभरने ही कौन देगा ? आज हम स्वतंत्र हैं, किन्तु बिना किसी स्व के, ऐसे में सृजन की बात उपहासास्पद लगती है। आज अंग्रेजी के ही नहीं हिन्दी के भी, और दार्शनिक या समाजशास्त्री ही नहीं, साहित्यिक भी, किसी भी लेखक का लेख देख लीजिए, उसमें यूरोपीय विचारकों के उद्धरण आप्तवाक्यों के समान आप को उद्धृत मिलेंगे। यहाँ तक कि उपन्यासों और नाटकों के पात्रों तक के उल्लेख में हिन्दी उपन्यासों–नाटकों के पात्रों के नामों के बजाय आपको अंग्रेजी उपन्यासों–नाटकों के नाम ही मिलेंगे। तो यह है हमारा स्वातंत्र्य और सृजनशीलता।

पी. 51 मधुवन पश्चिम
किसान मार्ग, जयपुर-302015

शल्य जी की चित् की आत्मगवेषणा

मुकुन्द लाठ

शल्य जी के दर्शन में चित् की आत्मगवेषणा को – विशेषकर उसमें इसी नाम से आये दो लेखों को – उनके विचार का एक नया आयाम कह सकते हैं।[1] एक ऐसा आयाम जो बड़ा ही भाव–विद्ध है : एक गहरी, अगाध वेदना को घर देता है। तात्पर्य यह नहीं कि यहाँ उनका लेखन काव्य या साहित्य की कोटि में आ गया है, या युक्तिपरक न हो कर व्यंजना की ओर झुक पड़ा है। ऐसा कुछ कहना ठीक न होगा। उनका यह लेखन भी पूरी तरह दर्शन–निष्ठ है, विचार को युक्ति–तर्क द्वारा ही उभारता है। यहाँ जो वेदना है, वह शल्य जी के दर्शन में, उनकी विचार–दृष्टि में ही निहित है। उनके दूसरे लेखन से इन लेखों में अंतर यह है कि यहाँ उन्होंने अपनी विचार–दृष्टि में निविष्ट वेदना को उभरने दिया है– उसे सामने ला दिया है।

इन लेखों में उभरती वेदना के स्वरूप को समझने के लिये शल्य जी के दर्शन में उतरना जरूरी है। मैं यहाँ अपने शब्दों में उनके विचार को उभारूंगा, विचार के उन पहलुओं पर विशेष ध्यान देते हुए जिन्हें यहाँ इस चर्चा के प्रसंग में अधिक गरिम समझता हूँ। इस प्रस्तुति में, मैं समझता हूँ, उनका आपादन उस आपादन की व्याख्या–मीमांसा में साथ लिये आगे आयेगा। प्रस्तुति को उनकी चित्–विषयक दृष्टि की मेरी की गई प्रस्तुति भी कह सकते हैं। यों बात कहीं उनके कहे से और उनके आशय से अलग भी हो जा सकती है। इस पर, आशा है, वे अपने विचार सामने रखेंगे – आलोचना–विवेचना करेंगे।

शल्य जी वेदांती हैं – अद्वैती, चिद्वादी। पर जिन दो लेखों की ओर मैंने ध्यान दिलाया है, उनका नाम ही देखिये। कौन वेदान्ती चित् की आत्मगवेषणा की बात करेगा ? चित् को अपनी खोज हो, यह बात ही वेदांती को बिलकुल सर्वथा अकल्पनीय लगेगी। चित् को कोई खोज ही कैसे हो सकती है? किसकी खोज? और उसे अपनी ही खोज हो, इस बात का तो वेदांती क्या, किसी भी चिद्वादी के लिये कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। चित् तो स्वयंप्राप्त स्वयंसंपूर्ण परम तत्त्व है – उसे तलाश क्या हो सकती है ?

तलाश हमें होती है जो हर तरह से अपूर्ण, अधूरे हैं। कह सकते हैं कि हमारा स्वरूप ही खोज में बसा है – और यह भी कि हमारी खोज का परम लक्ष्य परम–पूर्ण चित् है – हमारी सारी खोज का अवसान उसी की खोज में है, क्योंकि उसी में हमारी पूर्णता है। यही वेदांत कहता भी है। पर शल्य जी की दृष्टि में जो खोज हममें रूप लेती है वह चित् की अपनी खोज है – उसकी आत्मगवेषणा है। हमारी अपनी खोज में हमारी जिस चेतना की ओर इंगित है वह चित् का ही प्रकाश है। वहीं हम किसी भी संधान का बीज और प्रवृत्ति पाते हैं। सहज ही जिज्ञासा जागती है: कैसी है यह चेतना ? इसको चित् का प्रकाश कहने का क्या अर्थ है? पर सोचिये : विचित्र है हमारी चेतना ? इसमें जिज्ञासा जागती है, जो प्रश्न करती है, सत्य का, सार्थकता का मार्ग ढूँढती रहती है? अपनी ही गवेषणा करती है : अपने भीतर अपने स्वरूप को – अपने आत्म को – पहचानना चाहती है, बाहर जगत् के स्वरूप को जानना चाहती है, दोनों के संबंध को समझना चाहती है – 'क्या है' का प्रश्न उठाती है। पर हमारी चेतना के अंतरतम में निहित अपनी ही खोज का संकेत क्या है के प्रश्न में उतना नहीं, जितना 'क्या होना चाहिये', क्या उचित है, श्रेयस् है, साध्य है, ऐसे प्रश्न में है। यहाँ हमारी – मनुष्य की – चेतना में उस होने लिये आकृति है जो आत्म के अनुकूल है – वह आत्म जो हममें चित् का संकेत है। पर क्या है यह आत्म? हमारे लिये सबसे गहरा प्रश्न ही यही है – दूसरे प्रश्न, जैसे, 'बाह्य विषय क्या है', जगत् क्या है ये प्रश्न भी हमारे आत्म में ही जागते हैं – आत्म के बिना इन प्रश्नों का, इनके उत्तरों से बनते पूरे अर्थ–लोक की कहीं प्रतिष्ठा नहीं होगी : प्रश्नकर्त्ता, उत्तरकर्त्ता नहीं होगा, इस सारे व्यापार का कोई प्रेरक–धारक नहीं होगा। तभी हमारे लिये सबसे बढ़ कर यह प्रश्न है, मैं क्या हूँ ? पर सोच कर देखिये, कैसा बेढब प्रश्न है! प्रश्न यह मान कर चलता है कि मैं जो हूँ, वह नहीं हूँ! विचित्र है हमारी चेतना। यह चेतना या चित् की अपनी ही खोज है। जिसे 'हम' कहा जा सकता है, उससे ऊपर उठ कर ही बनती है।

चित् की अपनी ही खोज को समझने के लिये शल्य जी की दृष्टि में चित क्या है, इस प्रश्न में उतरना होगा। चित् परम तत्त्व है, वही है जिससे सब कुछ है, पर उसका होना सब कुछ के होने से अलग कोई वस्तु नहीं। साफ ही, स्वीकृत धारणा में चित् का जैसा स्वरूप उभरता है, शल्य जी के लिये वैसा नहीं है। शल्य जी के लिए चित् ध्रुव, नित्य वस्तु नहीं है। उसे वस्तु कहा ही नहीं जा सकता। बल्कि अवस्तु कहना ही समीचीन होगा। कह

सकते हैं कि वह स्वरूप से स्वातंत्र्य है जो सृजन में – आत्मसृजन में – व्यापृत होता है – इस व्यापृति में ही वह 'होता' है। पर उसका होना भी उसका स्वरूप नहीं है, इस होने में वह स्वरूप को खोजता है। उसका आत्मसृजन अपने को पाने के लिये होता–चलता सृजन है, पर इस आत्मगवेषणा के लिये होती सृजन–प्रक्रिया के बाहर चित् अपने आप में कुछ नहीं है। तभी यह सृजन ही चित् की आत्मगवेषणा है ओर तभी यह प्रश्न भी सार्थक भाव से उठता है कि कि क्या इस गवेषणा में चित् अपने आप को पा भी रहा है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर चित् के सृजन की गतियों के भीतर ही देखा–जाँचा जा सकता है। यही शल्य जी करते हैं और पाते हैं कि चित् भटकाव में उलझ रहा है – वह जिधर जाना चाहता दिखता है, वहाँ से पथभ्रष्ट हो रहा है। शल्य जी के लिये चित् के भटकाव का बीज और भी मूलगामी है – चित् के आत्मगवेषणा के प्रयास में ही अंतर्निविष्ट है। चित् का आत्मसृजन – कोई भी आत्मसृजन – अपने को अपने से व्यवहित कर, अपने से अलग रख कर ही हो सकता है। इस व्यापार में चित् आत्मसृजन के अथ में ही अपना इतर हो जाता है। और यहाँ ध्यान में रखने की बात यह भी है कि इस आत्मसृजन के बाहर चित का अपना कोई ध्रुव, नित्य वस्तु–रूप नहीं है। फिर भी आत्मगवेषक के रूप में अवस्तु चित् अपने सृजन के बाहर रहता हुआ उसमें अपने को देखता, परखता है और अपने को अपने सृजित इतर में न पा कर सृजनयात्रा का मार्ग बदलता है। हम आगे इसी की चर्चा करेंगे। पर यहाँ यह भी सोचिये कि यह सृष्टि चित् की ही आत्मसृष्टि है यह सृष्टि नहीं भी हो सकती थी। चित् अपने स्वातंत्र्य में अपने को पाने के लिये ही सृष्टि करता है, वरना सृष्टि की कोई और अनिवार्यता नहीं बनती। पर ऊपर जो कहा उससे यह भी आपादित होता है कि सृष्टि के पहले कुछ नहीं था। चित् भी नहीं था। सृष्टि असत् से होती है और अपने को पाने के लिए आत्मसृजन करता चित् भी आत्मसृष्टि के साथ ही सृष्ट होता है। पर इसके साथ ही अपना इतर हो जाता है। एक गहरे अर्थ में यह चित् के आत्मसृजन की ही विडंबना है जो आत्मसृजन व्यापार में ही अपने लिये प्रस्तुत होता है, इससे पूर्व कुछ नहीं होता – हो तो उसके आत्मसृजन की आवश्यकता ही नहीं होगी। इसलिये चित् को आत्मसृजन के पूर्व कुछ कहने का कोई अर्थ नहीं बनता – पर आत्मसृजन के साथ ही वह अपना इतर होने को भी बाध्य होता है।

बात को यों भी कह सकते हैं। चित् स्वतंत्र है, चाहे अवस्तु ही सही। वह सृष्टि करने को बाध्य नहीं। फिर हम प्रश्न कर सकते हैं : क्यों है सृष्टि? प्रश्न गूढ़ रहस्य की ओर ले जाता है – पर एक गहरा उत्तर – जो हम अपनी ही अत्मगवेषणा में प्रतीक–रूपेण पाते हैं – चित् की आत्मगवेषणा है : चित् को अपने स्वरूप की, अपने अर्थ की खोज है। चित् अपने को जानना चाहता है। सांख्य में भी यह अभिप्राय देखा जा सकता है। प्रकृति का सारा व्यापार परार्थ है– उसका सच्चा, गहनतम लक्ष्य पुरूष को अपने मुक्त स्वरूप की उपलब्धि कराना है। पर सांख्य का पुरूष स्वरूप से ही मुक्त, निःसंग है, अपनी मुक्ति के लिये उसका प्रकृति–उपहित होना, प्रकृति का इस प्रयोजन से व्यापृत होना – इसका सांख्य में कोई सार्थक तात्पर्य उभर नहीं पाता। शल्य जी की दृष्टि इस दृष्टि से कहीं सार्थक है। उनकी दृष्टि में चित् अपने को पाने के लिये ही आत्मगवेषणा में व्यापृत होता है – इसके पहले उसका कोई सिद्ध रूप है ही नहीं। अपने को पाने के लिये चित् को आत्म–व्यवहित हो कर अपने को अपने से बाहर अपने अर्थ के रूप में देखना होता है। अपने को पाने का दूसरा पंथ नहीं। पर चित् सिद्ध नहीं, स्वरूपेण साध्य है, तभी सृष्टि में भी वह अपने लिये साध्य ही रहता है। चित् स्वरूपेण साध्य अवस्तु है तो अपने बाहर अपने अर्थ की सृष्टि करता हुआ ही अपने को पाने की खोज कर सकता है। पर उसके अपने अर्थ का सृजन करने का परिणाम यह भी है कि उसे अपने से व्यवहित होकर अपना इतर होना पड़ता है – आत्म सृजन का दूसरा उपाय नहीं। सृजन के स्वरूपेण साध्य होने के कारण आत्मसृजन आत्मगवेषण की निरंतर यात्रा ही हो सकती है। इस आत्मसृजन के पहले चित् कुछ नहीं था। उसका अपने को पाने के लिये ही आत्मसृजन या आत्मोद्भव इस यात्रा के साथ युगपत् है। तभी यह कहना युक्त है कि सृष्टि असत् से होती है – यों भी सृजन असत् से ही हो सकता है – नहीं तो स्वतंत्र सृजन क्या होगा ! जो कुछ भी सत् होगा उसके परतंत्र होगा। पर चित् अगर सिद्ध नहीं है, आत्मसृजन में ही अपने को पाने की गवेषणा करता है तो खोज की इस यात्रा में भ्रांति–भटकाव का होना भी अनहोना नहीं होगा। यही हम पाते हैं। यात्रा के पर्व उभरते हैं जहाँ अगला पर्व पिछले का निराकरण पालता है।

अपने ही अर्थ को ढूँढते चित् की आत्म–सृष्टि का आरंभ चेतना का जगद्भाव है। इसे चेतना का जीव–भाव भी कह सकते हैं। इस जीव–भाव में हम पाते हैं कि चेतना असंख्य जीवों के माध्यम से इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ

का वितत् विराट् जगत् बुनती है। कहा जा सकता है कि जीव देह–व्यष्टि होता है, किसी व्यापक चेतना या चित् का आत्म प्रकाश नहीं। पर व्यष्टि–जीव जीव–जाति के अंतर्भुक्त होता है, और जीव–जातियों का एक पूरा वितान होता है जिसमें एक परस्पर–भाव उभरता है। जाति की सत्ता देशकाल से परे होती है और उसे चित् के आत्मप्रकाश के रूप में देखा जा सकता है। यह चित्सत्ता जाति के माध्यम से जीवों में रूप लेती हुई अपने विषयों में व्यस्त, उसी में डूबी रहती है। असंख्य जीवों में फैला है जीव–भाव का पसारा। जीवों के वैविध्य का अंत नहीं – और इस वैविध्य के माध्यम से – जहाँ एकेन्द्रिय से लेकर अनेकेन्द्रिय जीवों का वितान देखा जा सकता है, चेतना जीवभाव का पसारा फैलाती है। चेतना में यहाँ एक विषय–विषयी का द्वित्व उभरता है – इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ का। अपने को विषयी और उसके विषयों में बाँटती हुई चेतना विषयी के रूप में अपने विषयों में लिप्त हो जाती है। इन्द्रियों के माध्यम से इन्द्रियार्थ में अपना अर्थ पाती है। यह सारा प्रवर्तन ही जैसे इन्द्रियों के द्वार से इन्द्रिय–विषयों में रम जाने की एक अथाह कामना है। कामना को जगत्–सृष्टि का बीज कहा भी गया है। चेतना जगद्भाव में भोग, आस्वाद, आनंद के लिये प्रवृत्त होती है। इन्द्रिय के माध्यम से इन्द्रियार्थों में आमूलचूल निमज्जित जीव की जिजीविषा अनुकूल वेदन साधती है और प्रतिकूल का वर्जन करती है – समूची जीव–जिजीविषा इसी व्यापार में अभिरत दीखती है। यह जो कहा गया है कि आनंद से, आनंद के लिये जीवों की उत्पत्ति हुई है, यह पैठ की बात है। जीव–व्यवस्था का पूरा पसारा मानो चेतना की इस प्रवणता को बनाये रखने का बड़ा कुशल–बहुमुखी –जटिल संस्थान है। पर कामना–प्रवर्तित जगत् और उसमें आत्मसात् चेतना इसमें अपने को पाती नहीं है। ऐसा होता तो अपने ओर मुड़ी आत्मचेतना में जैविक कामना की निषेध–वृत्ति का उदय नहीं होता। फिर जीव कामना में – जीव–जिजीविषा में ही – इन्द्रियार्थों में पूरी तरह बंद संकीर्णता ही नहीं है, जीवो जीवस्य भोजनम की घोर निर्मम जीव–भाव में ही निहित हिंसा–वृत्ति है जिसे एक तरह का अंधा आत्मनिषेध भी कह सकते हैं। जगद्भाव की भोगोन्मुखता भय की विभीषिका में पलती है। चेतना को यह अभिप्रेत नहीं था। तभी तो चेतना जब अपनी ओर मुड़ कर आत्मचेतन होती है तो उसमें साथ ही साथ श्रेयस् बोध जागता है जिसमें प्राणों के प्रति इष्ट–बोध, करूणा–बोध अंकुर लेता है।

जीवों का विषयी विषयसात् रहता है, उसका अपना कोई स्वतंत्र आयाम नहीं बनता। वह नितांत बाह्यमुख, बाह्यसार होता है। चेतना की प्रवृत्ति यहाँ विषयमय होती है – इसके परे कुछ नहीं। तभी शल्य जी ने चेतना के इस भाव को जगद्भाव कहा है। इन्द्रिय–इन्द्रियार्थ और उससे बनते संसार में आकंठ आसक्ति – यही चेतना का जगद्भाव है। मानो जगद्भोग के लिये ही जगद्भाव का प्रवर्तन हुआ हो। वैविध्य के ही नहीं, प्रजनन के माध्यम से चेतना में जगद्भाव की अपार तृषित जिजीविषा उभरती देखी जा सकती है। अधिकांश जीवों का उद्भव ही एक–दूसरे के पूरक जोड़ों में होता है – मानो यह द्वित्व ही जीव–भाव का घटक हो – सन्तति के लिये रति–कामना जीवभाव की प्रकृति का अंग है। पर यह भी देखिये कि जीव–भाव की जीजिविषा जीवोपजीवी होती है, जीवों का यही परस्पर भाव है – एक व्यापक, निर्मम हिंसा जीव–जगत् का जैसे अनिवार्य अंग है। कामना–पूर्ति के लिये जीव भूख–प्यास, भय, आवेग, उद्वेग, रिरंसा, इन्हीं में लीन रहता है – उसकी चेतना का जीवन इसी में आबद्ध है, इसी में आत्मसात्। जीव चेतना को चेतना की वह प्रवृति कह सकते हैं जो जीवों के माध्यम से एक जगत् रचती हुई उसी में लीन रहती है – उसके परतन्त्र। इस चेतना में किसी स्वतंत्र अर्थ–गवेषणा की बात नहीं की जा सकती।

जगद्भाव में लीन चेतना सहसा अपनी ओर मुड़ती है। आत्मचेतन होती है। उसमें अस्मद्–भाव उभरता है। जिसके प्रति वह चेतन होती है। जीव–भाव का अहं सर्वथा बाह्योन्मुख था – जीववृत्तियों का अधिष्ठाता था, पर अतिक्रामी था – जीव–व्यष्टि से ऊपर रहते हुए उसकी उन्मुखताओं के अरों को नाभि देता था। व्यष्टि–जीव की वृत्तियाँ उसके जातिभाव से उद्भूत होती हैं – यों व्यष्टि का अपना कोई भाव, अपना स्वातन्त्रय था ही नहीं। पर चेतना के आत्मचेतन होने के साथ अहं अस्मत् का रूप ले लेता है, चेतना अपने को देखती हुई अपने से प्रत्यङ्मुख हो जाती है। उसमें एक विचित्र द्वैत आ जाता है जिसे अस्मि <> अस्मि का द्वित्व कहा जा सकता है। पर यह द्वित्व चेतना के एक अन्तरोन्मुख प्रस्तार में घर करता है, जो प्रस्तार अगाध है। इसमें चेतना जो अब तक जगद्भाव में पूरी निमज्जित, पूरी अपने बाहर की ओर उन्मुख थी, वह जैसे अपनी ओर उन्मुख होती है और अब अपने अंतर्निविष्ट अर्थों का अवगाहन, उद्घाटन कर सकती है। सच पूछिये तो चित् की आत्मगवेषणा का आरंभ भी अब होता है। जगद्भाव–निमिज्जित चेतना सर्वथा पराङ्मुख थी। उसमें ऐसे आत्म की

बात नहीं की जा सकती जो आत्मगवेषणा का लक्ष्य बने। चेतना में आत्मबोध उभरता ही चेतना के आत्मचेतन होने के साथ है, और तब उसकी आत्मगवेषणा का वास्तव आरंभ होता है। इसका प्रतीक हम अपनी आत्मगवेषणा में पाते हैं जब आत्मचेतना अस्मि**<>**अस्मि में द्विधा विभक्त हो अपने प्रदत्त स्वभाव को अनात्म पाती है और अपने सच्चे आत्म की खोज करती है। पर उसका वास्तव या स्वरूप–आत्म भी प्रदत्त कुछ नहीं होता, वह गणेषणा का लक्ष्य ही होता है। और चूँकि यह गवेषणा आत्मसृजन की यात्रा है, यह स्वरूप–आत्म भी सिद्ध कुछ नहीं होता बल्कि सदा सृजन–साध्य ही रहता है – तभी चित् की आत्मगवेषणा सचमुच गवेषणा है – किसी खोये हुए को पाने की खोज नहीं, अपने होने को ही पाना इस खोज का निहितार्थ है।

पर चेतना के आत्मचेतन होने साथ सृष्टि में नया स्पंद, नया स्फोट उभरता दिखता है। जीव–व्यष्टि अब व्यक्ति हो जाता है – उसका विषयी विषय से स्वतंत्र हो विषय को तत्–विषय के रूप मे देखने–जाँचने में समर्थ होता है। यह चेतना के द्विधा विभक्त होने का ही फल है। अब तक विषयी विषयमग्न था, उसका अपना कोई आयाम नहीं था। अब चेतना की प्रत्यङ्मुखता के साथ विषयित्व एक अथाह, अपने–भीतर–खुलते वैपुल्य में बस जाता है। इस विषयी में भाषा और भाषा के साथ विचार उदित होता है – जो उसकी दृष्टि को इन्द्रियार्थ मात्र से हटा कर एक असीम, व्यापक प्रसाद देता है। विचार के माध्यम से ही आत्मचेतना विषय का विषयत्वेन अवलोकन करती है। अब तक विषयनिमग्न चेतना के लिये विषय का विषयत्वेन अवलोकन संभव ही नहीं था – यह चेतना के आत्मद्रष्टा भाव के साथ ही उदित होता है। पर विषयित्व के इस स्वतंत्र प्रसार के साथ नये विषयों का उदय होता है, जो नव सृजित हैं – इनकी पहले कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। ये विषय ऐसे अर्थों के साथ उदित होते हैं जो जीवभाव में थे ही नहीं – संभावना के रूप में अव्यक्त भी नहीं थे – ये अपूर्वतः सृजित होते हैं। और इनके भीतर भी सृजन की आपार संभावना का दिगन्त खुला दिखता है। आत्मचेतना के साथ ये सृजन का नया उन्मेष लिये जागते हैं। काव्य, कला, विज्ञान, दर्शन, धर्म, अध्यात्म – ये ऐसे ही उन्मेष हैं। इन्हें अपूर्व विषयलोक या अर्थलोक भी कहा जा सकता है। ये पहले से किसी अस्फुट रूप में थे, और अब स्फुट हो रहे हैं, ऐसा कहने का कोई आधार नहीं। जगद्भाव चेतना का अपूर्व आत्मसृजन था जहाँ चेतना नितांत विषयोन्मुख रहती हुई विषय–सात् थी, उसके विषयी का विषय–भाव से अलग अपना

कोई आयाम नहीं था। अब आत्मचेतना के उभार के साथ विषयित्व का स्फार क्षितिज खुल जाता है जो चेतना के लिये नये अर्थों का संसार उभार देता है – उन अर्थलोकों का जिनका अभी हमने नाम लिया। पर अब इन्द्रियार्थ भी तत्–विषय हो जाते हैं। इन्द्रिय विषय क्या है, यह प्रश्न उस विषय के स्वरूप का प्रश्न हो जाता है और अब यह संधान का – खोज का – विषय हो जाता है, जो खोज इन्द्रिय विषय की तथता के अर्थ की खोज ही हो सकती है। विज्ञान की खोज ऐसी ही खोज है। यह खोज अब अपने प्रमाणों की खोज करती है और खोज का अंत नहीं होता। पर खोज में भ्रांति की संभावना भी घर करती है – यह भी इसके खोज होने का ही लक्षण है। पर खोज का यही रूप इन्द्रियविषय में ही नहीं, जिन्हें आत्मचेतना के साथ उद्भूत अर्थलोक – काव्य, कला, धर्म, आध्यात्म – कहा जाता है, इन सबमें अपनी प्रामाणिकता की खोज होती है जो भ्रांति की संभावना से स्वरूपेण दिग्ध रहती है। ये अर्थलोक इन्द्रिय विषय नहीं हैं, चाहे इन्द्रिय विषयों में रूप लेते हों जैसे कलाकृतियों या धार्मिक अनुष्ठान। पर इसका अर्थ यह नहीं कि ये असत्, मिथ्या या काल्पनिक हैं। ये चित् के अपने सत् हैं – उसके आत्मसृजन में उसके अपने अर्थ के रूप में उद्भूत होते हैं – तभी ये अपनी प्रामाणिकता की मांग करते हैं। पर ये चित् की आत्म गवेषण संभूत भी हैं, तभी इनके सत् की खोज होती हैं, जिसका कोई अंत नहीं होता और क्योंकि यह खोज सृजन–साध्य रहती है, जहाँ चित् का सत् पूर्व प्रदत्त नहीं होता, अपने अर्थ–सृजन के साथ ही सृष्ट होता है, इसलिये भ्रांति की संभावना सदा बनी रहती है – हम देख चुके हैं कि चित् का आत्मसृजन आत्म–व्यवहित है, उसमें अपने को न पाने की संभावना कभी तिरोभूत नहीं हो सकती।

तभी चेतना क्यों जगद्भाव में अपने को सृजित करती है और फिर क्यों आत्मचेतन होती है, यह एक परम रहस्य ही हो सकता है। पर इतना प्रकट है कि आत्मचेतन होकर चेतना अपने ही जगद्भाव का निराकरण भी करती है। उसमें अपने को नहीं पाती – उससे असंतुष्ट ही नहीं होती, उसे अनात्म पाती है। यह विचित्र है। पर देखिये ? आत्मचेतना के साथ ही प्रवृत्ति में श्रेयस्–बोध जागता है जो अब तक की सहज हिंसा और नितांत इन्द्रियनिष्ठ प्रेयस्–बोध की वृत्तियों को असत् ठहराता है। पर यह और भी विचित्र है कि श्रेयस्–बोध के साथ ही चेतना की अन्य प्रेयस् और हिंस्र वृत्तियों का आकर्षण और भी घोर–विकराल हो जाता है, बल्कि एक नया अपूर्व विकराल रूप लेता दिखता है। फिर भी अब श्रेयस् बोध सहज हो

जाता है जो औचित्यबोध के साथ न्याय–बोध, मैत्री, परदुःख दुःखिता, करूणा, आत्मदान जैसी वृत्तियों में रूप लेता है। ये आत्मचेतन विषयित्व के चित् स्वभाव स्थित एकत्व को अभिव्यक्त करती वृत्तियों में रूप लेता है। ये आत्मचेतन विषयित्व के चित्–स्वभाव स्थित एकत्व को अभिव्यक्त करती वृत्तियाँ कहला सकती हैं। पर इससे भी बढ़ कर श्रेयस्–बोध नचिकेता की उस अभीप्सा में देखा जा सकता है जो अभीप्सा सारी वृत्तियों से परे चित् के अपने स्वरूप को पा लेने के लिये लालायित होती हैं। इसे श्रेयस् बोध की पराकाष्ठा भी कह सकते हैं, चित् की आत्मगवेषणा का पर्यन्त।

आत्मचेतना चेतना की आत्म–प्रत्युपस्थापना है – और इसी में हम आत्म की आत्मगवेषणा को भी प्रस्फुटित होता पाते हैं। अब तक चेतना आत्म–बाह्य थी। अब वह सचमुच अपनी आत्मरूप प्रत्युपस्थापना करती हुई आत्गवेषणा का सूत्रपात करती है। ऊपर जिन अर्थ–लोकों की बात की, उनमें चेतना जो गवेषणा करती है, उसके अपने अर्थ की गवेषणा ही हो सकती है। चेतना की यह खोज हमारे माध्यम से होती है – आत्मसृजन के बाहर चेतना का अपना कोई सिद्ध रूप नहीं – वह अपने आत्मसृजन में ही साध्य रूप में रहती है। इसी अर्थ में वह सृष्टि से परे है। उसकी अपनी खोज हमारी चेतना की द्विधा–विभक्त आत्मचेतना में अंतर्निविष्ट है। सहज–स्वाभाविक तो यही लगता कि चेतना आत्मचेतन हो तो अपने को देख लेगी, जान लेगी, पा लेगी – क्योंकि आत्मचेतना अपने–को–देखती चेतना भी होती है। पर गहरी और अनूठी विडंबना यह उभरती है कि चेतना आत्मचेतन हो कर अपने प्रस्तुत आत्म में अपने को पराया पाती है, उसे अनात्म पाती है। उसे सिद्ध नहीं, साध्य पाती है, अपने वास्तव स्वरूप से च्युत। तभी अपने स्वरूप को खोजती है – अपने आप को अपने स्वरूप के अनुकूल साधने के यत्न भी करती है : हमारी श्रेयस्–साधना में इसी का प्रतीक है। पशुओं में जहाँ आत्मचेतना का अभाव है, वहीं श्रेयस्–अश्रेयस् बोध का भी सर्वथा अभाव है, उनमें उचित–अनुचित की कोई चेतना ही नहीं – उनके संदर्भ में इन कोटियों का ही कोई अर्थ नहीं बनता। मनु ने ठीक ही मनुष्य का इतर जीवों से व्यावर्तक लक्षण 'धर्म' कहा है। बुद्धि – और बड़ी तीखी–पैनी उपादेय हानोपादान बुद्धि – तो हम जीवों में भी देख सकते हैं, पर धर्म–बुद्धि वहाँ न कुछ ही है। पर यह धर्मबोध या श्रेयसबोध ही चेतना के आत्मचेतन होने का भी लक्षण है। यह मनुष्य व्यक्ति में रूप लेता है, पर मनुष्य का जातिगत लक्षण है, और जातिगत लक्षण के रूप में मनुष्य से – मनुष्य व्यक्तियों से –

ऊर्ध्व है, वैसे ही जैसे जीवों के जातिगत लक्षण उनसे – जीव व्यष्टियों से– ऊर्ध्व होते हैं। श्रेयस् या उचित – अनुचित की जिज्ञासा सत् का ऐसा अर्थलोक है जो विज्ञान से बहुत भिन्न आंतर प्रमाण की मांग करता है। श्रेयस बोध में हमने ऊपर आत्मगवेषणा का ही संकेत या प्रतीक देखा था। बड़ा विस्मयकारी है यह बोध : श्रेयस् चेतन आत्मचेतना का आत्मद्वैध अपने आप को ही अपने स्वरूप से च्युत पाता है। अपने किये पर पछतावे में हम इस तथ्य का बड़ा सघन संदेश पाते हैं। अपने किये पर पछतावा अपने ही स्व को हेय, अनात्म ठहरा देता है – मैं वह नहीं हूँ जो मुझे होना चाहिये, जो मैं अपने वास्तव स्वरूप में हूँ। अपने आत्म में ही अनात्म की यह तीव्र अनुभूति आत्मचेतना के आंतर द्वैत को तो बड़ी तीखी कचोट के साथ आगे लाती ही है, पर चेतना के भीतर ही अपने सत्य की, स्वरूप की तलाश का संकेत भी कही जा सकती है। तभी श्रेयस्–बोध के साथ साधारण धर्मों का बोध जागता है जो 'मेरे' लिये नहीं 'हमारे' लिये हैं – इनकी प्रेरणा ही मनुष्य को अपने स्व के घेर से ऊर्ध्व करने की है। इस प्रेरणा में एक और बात दिखती है। इसमें पशु–भाव की सहज कामना और लिप्सा का निराकरण भी उभरता है – अहिंसा, परार्थ–भाव, अगृध्नुता, करूणा, मैत्री, प्रेम, अपने स्वरूप की या सत्य की खोज, इन भावों और आदर्शों का नया क्षितिज उदित होता है, जिसे पशु–चेतना के जगद्भाव का नकार कहा जा सकता है। आत्मचेतना की अपने को देखती प्रत्यङ्मुख आत्म दृष्टि में विचार की तटस्थता ही नहीं है, उसके अपने समूचे होने को ही एक नया आयाम देने की प्रवृत्ति भी वहाँ जाग उठती है – मानो अब तक चेतना अपने सत्य से – अपने अर्थ से – भटकी हुई थी। चेतना मानो अपनी ओर मुड़ कर यह पाती है कि वह स्वरूप–च्युत है।

पर चेतना की आत्मगवेषणा में एक गहरी मूलघाती आत्मवंचना है। अपने को पाने के लिये आत्मसर्जन में प्रवृत्त चेतना अपने से बाहर आने को–अपना ही इतर हो जाने को – बाध्य होती है। अपने से व्यवहित हुए बिना अपना सर्जन संभव नहीं। जगद्भाव से उठ कर चेतना जब आत्मचेतन होती है तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है – वह अपने को अपने इतर के इतर रूप में ही पाती है। पर अर्थों के नये आयाम प्रस्फुटित करती है जो अपूर्व हैं। ये आयाम उसके आत्मसंधान में ही उद्भूत होते हैं। हम अपने सृजन में भी यह पाते हैं। सृष्ट अर्थ पहले से उपस्थित नहीं होते – ये केवल प्रकट नहीं होते, अपूर्वतः सृष्ट होते हैं।

एक बात यहाँ विशेष अवधेय है। जिन अर्थलोकों की, जिस श्रेयस्–प्रवृत्ति की ऊपर बात की, उसे हम व्यक्ति–भाव के जोड़ने के आदी हैं। जीवभाव को हम परम चेतना का – चित् का जीव–भाव मान भी लें तो भी आत्मचेतना को व्यक्ति–निष्ठ ही मानने की ओर झुकते हैं। पर स्पष्ट ही आत्मचेतना व्यक्ति की नहीं होती, व्यक्ति में उसका प्रकाश होता है– भाषा की तरह जो आत्मचेतना के साथ रूप लेती है। साफ ही भाषा व्यक्ति की नहीं होती, व्यक्ति में रूप लेती है। श्रेयस्–बोध की तरह ही भाषा को मनुष्य का मनुष्य–जातीय लक्षण कहा जा सकता है। श्रेयस्–बोध और भाषा तथा भाषा में निहित विचार, ये आत्म–चेतना के साथ मनुष्य व्यक्ति में जागते हैं, पर व्यक्ति से ऊर्ध्व मनुष्य के जातीय लक्षण के रूप में। इस अर्थ में आत्मचेतना व्यक्ति से अतिक्रांत है। हम स्वसंवेद को – अपने अस्मत् – प्रत्यय या अस्मत् बोध को आत्मचेतना समझ बैठते हैं, पर जीव–भाव की पराङ्मुखता से ऊपर उठी, प्रत्यङ्मुख चेतना का आत्मबोध हममें जो श्रेयस्–प्रवृत्ति, भाषा और विचार के साथ अर्थलोकों का संधान जगाता है, वह मनुष्य–व्यक्ति के अस्मत् तक सीमित नहीं है। इसका एक प्रमाण यह है कि व्यक्ति का अस्मत्–बोध भी व्यक्ति सीमित नहीं, सामान्य होता है। अस्मत्–बोध अस्मत्–प्रत्यय होता है, और यह प्रत्यय भाषा में 'मैं' के रूप में व्यक्त होता है – पर 'मैं' एक सर्वनाम है, एक सामान्य प्रत्यय है। 'मैं' अपने आप को नहीं, किसी को भी 'मैं' के रूप में देख सकता हूँ – अस्मत् की यह सामान्यता ही समाज–चेतना का आधार होती है। पर अस्मत् की यह सामान्यता आत्मचेतना के आत्म को भी निर्वैयक्तिक ठहराती है। हम यह भी पाते हैं कि व्यक्ति की चरितार्थता उसकी इच्छा आवेगों से, रूढ़ि–संस्कारों में ढले प्रवाह में ऊर्ध्व, चेतना के अपने अर्थलोकों में ही पल्लवित होती है – चित् की अपनी प्रत्यङ्मुखता में। तभी हम कह सकते हैं कि 'मैं क्या हूँ' की खोज, आत्म का आत्म–संधान, चित् की आत्मगवेषणा है।

अब यह देखना भी कठिन नहीं होना चाहिये कि मनुष्य के माध्यम से रूप लेते व्यक्ति और समाज, और इनमें रूप लेते अर्थ–लोक मनुष्य–व्यक्ति या व्यक्तियों की नहीं, प्रत्यङ्मुख आत्मचेतना की सृष्टि हैं। वैसे ही जैसे जीव–सृष्टि और उसका जगद्भाव पराङ्मुख चेतना का आत्मसर्जन था। हम देख ही पाते हैं कि अर्थलोक निर्वैयक्तिक होते हैं – हम स्व के स्वार्थ, आवेग, वासना के अभिनिवेशों से जितना ऊपर उठते हैं, उतना ही अर्थ–सृजन में समर्थ होते हैं। अपनी सृजन–प्रज्ञा में हम अपरोक्ष–भाव से यह पाते हैं कि

हममें हमसे परे की प्रेरणा है। पर व्यक्ति ही को लें। व्यक्ति को किसी अर्थ में स्वप्रतिष्ठ मानने का आग्रह आज प्रबल है। इसमें यह भी निहित है कि व्यक्ति अपनी ही सृष्टि है। यों व्यक्ति अपने से पूर्व हो जाता है – जिसका कोई अर्थ नहीं। व्यक्ति का संकल्प–बोध जिसमें वह अपने को साध्य पाता है, और उसकी साध्यता का आदर्श या प्रतिमान, दोनों ही व्यक्ति की अपनी कृति नहीं कहला सकते। व्यक्ति का संकल्प–बोध व्यक्ति के व्यक्ति–भाव का युगपत् होता है, व्यक्ति के परे से व्यक्ति में रूप लेता है। व्यक्ति का साध्य प्रतिमान उसे अक्सर अपनी संस्कृति से मिलता है – हालांकि व्यक्ति में संकल्प के साथ स्वातंत्र्य होता है तो व्यक्ति उसे बदल सकता है। पर इस बदलाव में जो आत्मालोड़न और आत्ममनन अपेक्षित होता है, वह व्यक्ति को अपनी प्रत्यङ्मुख चेतना के जिन आयामों में ले जाता है उन्हें व्यक्ति चेतना के आयाम कहने का कोई अर्थ नहीं बनता। वे प्रत्यङ्मुख आत्मचेतना के अपने आयाम होते हैं – जिन आयामों में निर्वैयक्तिक अर्थलोक रूप लेते हैं। संस्कृति के साध्य और प्रतिमान भी व्यक्ति से स्वतंत्र होते हैं, व्यक्ति में रूप लेते हैं। संस्कृति को भी किसी अर्थ में व्यक्ति–अपचित कर देने का आग्रह गहरा है – संस्कृति को व्यक्तियों के ही आदर्शों का, दृष्टियों का व्यूह–विशेष या परस्पर भाव मानने की विचार–प्रवृत्ति तीव्र है। पर मनुष्य व्यक्ति का अस्मत् भाव अगर स्वरूप से सामान्य है तो समाज की अपनी सत्ता बनती है – यों भी समाज के बिना व्यक्ति नहीं हो सकता – और संस्कृति को समाज की आत्मचेतना कहना उपयुक्त ठहरता है – हालांकि यह आत्मचेतना चेतना की प्रत्यङ्मुखता का ही दूसरा नाम है – इसमें व्यक्ति जैसा स्वसंवेद या अस्मत्–बोध नहीं होता। पर यहाँ भी जिस अर्थ और अर्थ–संधान का प्रकाश होता है, वह चेतना के जगद्भाव से ऊपर उठ कर ही बन पड़ता है। संस्कृतियाँ साध्य अर्थ की दृष्टि–विशेष में स्थित होती हैं। यह दृष्टि ज़िजीविषा के हानोपादान से ऊपर उठकर पुरूषार्थ–दृष्टि होती है जो चित् के अपने अर्थों का संधान ही कहला सकती है। इस संधान के साथ व्यक्ति और उसमें जागता कर्तृत्व–ज्ञातृत्व बोध और समाज, उसकी परिवार जैसी संस्थायें जिनमें व्यक्तियों का परस्पर–भाव एक अपूर्व धरातल पर नया आयाम ले लेता है, समाजों में आदर्श जाग उठते हैं जो अपनी संस्थायें भी खड़ी करते हैं। क्या है के दृष्ट से नये अंतरिक्ष में ऊपर उठता 'क्या होना चाहिये' की अभीप्सा का अदृष्ट जीवन में वैश्वानर अग्नि की तरह रूप लेता है, संस्कृतियों को रूप देता है। जीवन अब सिद्ध ही नहीं रहता, साध्य हो

जाता है। यहाँ चेतना का वही विभु, सर्वव्यापक भाव है जो पशु में था – पर उसकी दिशा बदल गई है। हम अपने सर्जन की प्रतिभा या प्रज्ञा के उन्मेष में चेतना के आत्मसर्जन का प्रतीक देख सकते हैं। जब हम सचमुच सार्थक स्रष्टा होते हैं तो पाते हैं कि सर्जन हमारा नहीं, हममें हमसे ऊपर हमारा अतिक्रमण करती चेतना का प्रकाश है जो हममें उतरता हुआ हमारे माध्यम से सर्जन करता है। काव्य, कला, ही नहीं, दर्शन, विज्ञान, श्रेयस् या औचित्य–बोध, धर्म, अध्यात्म, सब में प्रतिभा का व्यापार रूप लेता है।

इसका अर्थ यह भी नहीं कि व्यक्ति की अपनी इयत्ता नहीं होती। जो संकल्प व्यक्ति को व्यक्ति बनाता है, वह व्यक्ति से ऊर्ध्व होता है – व्यक्ति का नहीं कहला सकता, क्योंकि उसके बिना व्यक्ति का कोई आपा नहीं बनता है। जीव व्यक्ति नहीं होते। उनका अहंकार देह–व्यष्टि से ऊर्ध्व रह कर ही सहज–जैव प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) के माध्यम से उनका संचालन करना है। तभी जीव की विषयिता पूरी तरह जातीय होती है। आत्मचेतना के साथ अहंभाव आत्मदृष्ट हो जाता है – आत्मचेतना के अस्मि<>अस्मि में द्विधा विभक्त हो जाता है। व्यक्ति की विषयिता का अस्मत्–भाव, उसका संकल्प–बोध इसी के साथ उद्भूत होता है। कह सकते हैं कि अहं अब आत्म का रूप लेता है – जीव के अनात्मचेतन अतिक्रामी जातीय अहं में आत्म की बात वृथा है। आत्म रूप लेना ही आत्मचेतना की आत्मदृष्टि और आत्मसंधान है। वह रूप लेते ही साध्य हो जाता है। जीव–चेतना के पूर्व संस्कार अब भी उसमें घर करते हैं, उसे विवश भी करते हैं, उसका संकल्प इसी धरती पर रूप लेता है। पर उसे स्वतंत्र करता है, उसे स्वतंत्रता का दायित्व देता है – वह अपनी करनी का अधिष्ठाता होकर उसका उत्तरदायी हो जाता है : अपने प्रति भी और समान–धर्म आत्मचेतन विषयियों के प्रति भी, क्योंकि उसका अस्मत् भाव ही अस्मत् प्रत्यय होता है, यों अस्मत्–सामान्य का ही एक विशेष होता है। पर इससे उसका व्यक्तिभाव नगण्य नहीं हो जाता। चेतना की प्रत्यङ्मुखता में व्यक्ति की चेतना अर्थलोक की भूमा की ओर खुलती है, और उसके भी परे विशुद्ध चैतन्य के आयाम देखती–पाती है। व्यक्ति जितना ही चेतना की निर्वैयक्तिक भुमा को अपने में घर दे सकता है, उतना ही महत् होता है, पर उसका व्यक्तिभाव बना रहता है। व्यक्ति का संकल्पजन्मा कर्त्तव्यबोध कई स्तरों पर काम कर सकता है। अधिकांशतः हम संस्कार और प्राकृतिक जैव प्रवृत्ति के परवश ही रहते हैं – फिर भी संकल्पबोध हमें प्राकृतिक स्तर से ऊपर ही रखता है – संकल्पबोध का

स्वातंत्र्य, उससे जन्मा दायित्व हममें उतना ही सहज होता है जितना जीवभाव का विवश प्रवृत्ति प्रवाह। तभी मनुष्य में नियम–कानून सहज हैं। फिर हमारे अस्मत्–भाव के सहज ही साध्य और सामान्य होने के कारण हम अपनी संस्कृति के प्रतिमानों में अपने को ढालने की ओर सहज ही उन्मुख होते हैं। पर व्यक्तिभाव में इन सबसे ऊपर उठ पाने की संभावना भी होती है – चाहे कम व्यक्तियों में ही देखी जाती हो। 'किं मया कर्त्तव्यम्' का प्रश्न व्यक्ति को ही सताता है, और कई स्तरों पर सता सकता है – जहाँ व्यक्ति की चेतना निविष्ट होती है, उसी स्तर पर रहता हुआ वह इसका उत्तर खोजता है। पर अपनी कर्त्तव्य–मूढ़ता में व्यक्ति को उस स्तर से ऊपर उठ कर ही किसी प्रकाश की संभावना दिखती है। अर्जुन का युद्ध के बीच युद्ध से मुंह मोड़ लेना जिस विकट धर्म–संकट का परिचय है, वहाँ उत्तर चेतना के निस्त्रैगुण्य स्तर पर ही बताया गया है – और कह भी सकते हैं कि इसी स्तर पर धर्म–संकट में मुक्ति मिल सकती है। पर क्या आत्मचेतन व्यक्ति–चेतना के स्तर सार्थक नहीं हैं? ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। कवि–चेतना को लीजिये या कथा–उपन्यासकार की चेतना को। इनमें जो दुःख, करूणा, वेदना ... रंजित अर्थ प्रकाशित होते हैं यों जीवचेतना में निहित आवेगों–वासनाओं के ही रूपान्तर होते हैं और जो व्यक्ति–चेतना में ही रूप लेते हैं। पर क्या त्याज्य कह कर उपेक्षित कर दिया जा सकता है? प्रेम को ही लीजिये। यह काम का 'अर्थमय' धरातल कहला सकता है जो व्यक्ति में उन्मीलित होता है – पर कैसा उन्मेष लिये होता है, और कैसी ऊर्ध्वतर संभावना – भक्ति इसीका पर्यंत है।

पर जगद्भाव से ऊपर उठी चेतना जो जगद्भाव का निराकरण करती दिखती है, उसकी विडंबना भी अनूठी है। चेतना समाज–संस्कृतियों में रूप लेती है और जीव–सृष्टि जैसी बहुलता ही संस्कृति की बहुलता में अर्थ का एक नया धरातल पाती है। पर यहाँ यह भी देखिये कि मनुष्य की समाजगत बहुलता परस्पर युद्ध में ही निरत रहती है – राज्यों, समाजों के संबंध किसी श्रेयस् तत्त्व में नहीं साम–दाम–दंड–भेद में आहित होते हैं – हिंसा का तांडव ऐसा रूप लेता है जैसा जीव की बुभूक्षा–सीमित हिंसा में सोचा ही नहीं जा सकता। आज मनुष्य की संस्कृति यंत्र बनाने में विशेष अभिरत है – इसमें सुख–सुविधा का आयाम विस्तार पाता है, पर ऐटम बम भी इसीका का मनुष्य की प्रवृत्ति में बसता सहज परिणाम है। कहा जाता है कि सर्वनाश की भीति ही सर्वनाश की रोक–थाम है – पर भीति किसी

श्रेयस् वृत्ति का आधार तो नहीं हो सकती। भीति के आधार पर ही मनुष्य बना रहे तो चेतना का अर्थ–दारिद्रय इससे अधिक क्या हो सकता है !

पर यह भी है कि मनुष्येतर जीवों में अर्थ की खोज नहीं है अथवा यों कहिये की मनुष्य के पूर्व की सृष्टि जिजीविषा तक ही सीमित है – उसकी खोज इस जिजीविषा के भीतर कैद है। हां, इन जीवों में जीव–भाव का एक तारतम्य देखा जा सकता है – विकास–क्रम का एक सोपान भी उभरता देखा जा सकता है, जहाँ बुद्धि के उत्कर्ष का आरोह भी आगे आता है, पर अर्थ–गवेषणा का लेश भी मानो नहीं है। जीव–सृष्टि से पूर्व भी इस तारतम्य का एक और निचला पर्व देखा जा सकता है : वनस्पति में। वनस्पति को चेतन कहने में संकोच हो सकता है – कहा जा सकता है कि वनस्पति में संवेद या प्रतीति का अभाव है जो चेतना का आदि चिन्ह है। वनस्पति में अनुकूल–प्रतिकूल बोध के अभाव की भी बात की जा सकती है। पर उसमें प्राण है और प्राण की जड़–भिन्न प्रवृत्ति है, यह देखा जा सकता है। उसके जीवन–मृत्यु की बात की जा सकती है। जगदीश चन्द्र बसु ने उसमें संवेद का और अनुकूल–प्रतिकूल बोध का होना भी दिखाया था। पर हो भी तो बहुत निचले स्तर का ही ठहरेगा – क्योंकि वनस्पति में इन्द्रियों की – ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की – बात नहीं की जा सकती। संवेद का आरम्भ हम इन्द्रियों के साथ ही देख पाते हैं। वनस्पति में प्राण के साथ चेतना है भी तो भी स्पष्ट ही वनस्पति से आगे की जीव–सृष्टि में चेतना अधिक प्रकट, उन्मीलित रूप लेती देखी जाती है।

सृष्टि का होना – चेतना का जगद्भाव और उसमें अपने को न पा कर आत्मचेतन होना, और आगे वह विचित्र यात्रा क्या रूप लेगी कौन जानता है! पर यह अपने को नकारती चलती यात्रा ही क्यों? यह एक अबूझ पहेली के सिवा क्या हो सकता है? ऐसी किसी यात्रा की बात को, बल्कि सृष्टि–प्रवर्तन के प्रश्न को ही अप्रश्न कह कर विचार से ही पंगत–बाहर कर दिया जा सकता है – जैसा कुछ लोग करना भी चाहेंगे। पर इस में मनन का निमंत्रण भी है। चेतना – या चित् – का आत्म–प्रवर्तन क्यों ? ऐसे संदर्भ में जो भी अर्थ उद्‌घाटित हो वह रूपक या उत्प्रेक्षा का रूप लेगा। रूपक या उत्प्रेक्षा को ज्ञान कहने से हम बड़े गहरे में सकुचाते हैं। तभी प्रश्न को अप्रश्न कहने की दिशा यह कह कर ली जाती रही है कि जो ज्ञान का विषय हो ही नहीं सकता, जहाँ किसी प्रमाण की पहुँच ही नहीं, उसकी बात करने का अर्थ भी क्या ? बात विचार के वृथा गोरखधंधों में उलझने के सिवा और

कहाँ जा सकती है। पर हमारी प्रमाण–वृत्ति को हमारी जिज्ञासा–वृत्ति से अलग नहीं किया जा सकता – प्रमाण क्या है, इसकी किसी तैयार तालिका का कोई अर्थ नहीं – किसी भी प्रमाण की प्रामाणिकता जिज्ञासा और प्रश्न के घेर में आ सकती है। प्रामाणिकता का बोध हमारी उस अर्थ–संधानी जिज्ञासा और विचार–वृत्ति में निहित है जो सृष्टि कैसे और क्यों जैसे आधार–भूत प्रश्न पूछने से विरत नहीं होना चाहती। जिज्ञासा को सीमित करने की बात अक्सर इसलिये होती है कि हम अपने अर्थ–संधान को ही सीमित कर देना चाहते हैं – क्या सिद्ध है, क्या साध्य है, इसकी कुछ सर्वतोनिर्णायक दृष्टियाँ ऐसी करती ही रहीं हैं। पर जिज्ञासा और अर्थ–संधान हमारी गहरी से गहरी प्रवृत्ति है जिसका क्षितिज अबाध भूमा की ओर खुला रहता है – उसे बाँध कर कस नहीं दिया जा सकता। हमारे स्वरूप में निहित अर्थ संधानी गवेषक वृत्ति की कोई लक्ष्मण–रेखा बनाई भी जाये तो बनते बनते भी मिटने की दिशा लेने लगती है। फिर सृष्टि क्या है, क्यों है? यह गवेषणा तो हममें (मनुष्य में) जिज्ञासा के उदय के साथ ही उद्भूत हुई जान पड़ती है। मनुष्य का यह चिरंतन प्रश्न रहा है। विज्ञान जो ऐसे प्रश्नों को सतर्कता के साथ अपने से दूर रखता रहा है, वह भी आज सृष्टि के आदि की बात करता है। कहा जा सकता है कि यह प्रश्न उसके तंत्र में स्वतः उठता दीखता है। एक युक्ति यह है कि भौतिक ब्रह्माण्ड की सीमायें विस्फारित होती चली जा रही है, इस प्रक्रिया का आदि ब्रह्माण्ड के बाहर की ओर संकेत करता है : ऐसे आदि की ओर जहाँ ब्रह्माण्ड का स्वरूप किसी अकाय बीज की तरह था – दिक्–दशा हीन एक संभावना का संहत अमूर्त रूप। एक आदिम विस्फोट की कल्पना की जाती है जो ब्रह्माण्ड और इसके देशकाल से बाहर होकर भी इसका आदि–कारण था। पर उसे 'कारण' कहना भी एक वचो भंगी या उत्प्रेक्षा ही हो सकती है – वह आदि–कारण कार्य–कारण–भाव के – इन कोटियों के ही – बाहर था। वह कार्य–कारण का भी निष्कारण आदि था। उसे भौतिक पदार्थों – परमाणुओं, ऊर्जाओं और उनके कार्य–कारण जैसे संबंधों का – आदि कारण कहा जाता है, पर उसका कोई कारण नहीं हो सकता : उसे कार्य–कारण की कोटि में रखा जाये तो उसके भी किसी आद्यतर कारण की बात करनी होगी और यों अविश्रान्त अनवस्था ही हाथ आयेगी। यहाँ और भी कई सवाल उठते हैं : जब वह आदि बीज – या उत्प्रेक्षा से उसे जो कुछ भी कहिये – एक गूढ रहस्य जैसा कुछ था, देश–काल से तो बाहर था ही, तो उसके होने का –

उसे 'था' कहने का – अर्थ क्या ? क्या वह अस्तित्व से परे सन्मात्र था या फिर असत् था – या इन दोनों कोटियों से भी बाहर था ? विज्ञान उसे विशुद्ध कल्पना या विचार कल्पना भी नहीं कह सकता क्योंकि फिर उससे उद्भूत जगत् भी कल्पना ही हो जायेगा। पर 'आदि–बीज' – या उसे कुछ भी कहिये – वह कल्पना न सही किसी अर्थ में सत् ही सही, तो भी यह जिज्ञासा तो जागती ही है कि ऐसे अनहोने में विस्फोट हुआ ही क्यों – होने का कोई कारण तो हो नहीं सकता था, यह विस्फोट कदापि नहीं भी हो सकता था। फिर हुआ क्यों ? इसके होने का उद्देश्य या प्रयोजन क्या? ऐसे प्रश्न विज्ञान नहीं पूछता– ये उसके विचार तंत्र में नहीं समाते। पर आदि विस्फोट की कल्पना भी विज्ञान के तंत्र में नहीं समाती – उसका 'होना' किसी वैज्ञानिक विधि से प्रमाणित–अप्रमाणित नहीं हो सकता : उसका विचार विज्ञान की विचार–व्ययवस्था के भीतर साध्य या निराकरणीय कोई अभ्युगम नहीं हो सकता। दूसरी किसी गति के अभाव में ही विज्ञान उसे उपस्थापित करने को मानो बाध्य होता है – हालांकि यह कल्पना अब लोक–मानस में ईसाइयों के ईश्वर–वचन से सृष्टि होने की तरह ही एक परम 'सत्य' का स्थान ले चुकी है। पर बात यहाँ भी रूपक–उत्प्रेक्षा की ही ठहरती है – कहने का और कोई रास्ता है भी नहीं। विज्ञान के लिये भी नहीं है : सृष्टि के बाहर की बात कोई ऐसी घटना तो हो नहीं सकती जिसे किसी वैज्ञानिक व्याख्या में ढाला जा सके। पर विज्ञान इस अनहोने विस्फोट को भी अपनी जगत्–कल्पना के भीतर कस रखना चाहता है – इस कल्पना के अनहोनेपन को दबाता हुआ उसे अपने विचार तंत्र के कार्य–कारण में समेट कर युक्ति–संगत बना लेने की चेष्टा करता है – अपने सिद्धांत के प्रकार से घेर–बाँध लेना चाहता है। विज्ञान के लिये आदि विस्फोट उस जगत् का ही बीज है जिसे विज्ञान का कल्पना–तंत्र एक विशेष और आधारगत भौतिकता के रूप में खड़ा करता है। आदि विस्फोट बीज–रूप में वही जड़ जगत था जिसे विज्ञान जगत् मानता है – इस अर्थ में उस विस्फोट को सृजन की नहीं, सृजन को सीमित कर देने की ही संभावना कहा जा सकता है। ऐसे जगत् को 'सृष्टि' नहीं कह कर 'नियति' कहना उपयुक्त लगता है, क्योंकि इसमें नया उन्मेष जाग ही नहीं सकता – यह उस लिपटी हुई चटाई की तरह है जहाँ सारी की सारी चटाई ज्यों की त्यों गोल पड़ी थी, अब बिछ रही है – आदि विस्फोट और उसके साथ आरंभ हुई सृष्टि बने बनाये सिमटाव के फैलने का आरंभ है, इससे अधिक कुछ नहीं। इस फैलाव में देखने वाले के

लिये कुछ नया हो भी तो इसलिये कि चटाई अभी बिछ रही है, उसे पूरी दिखाई नहीं देती, वरना चटाई में नया कुछ नहीं है। यहाँ एक गहरी विडंबना यह भी है कि उस चटाई में किसी देखने वाले की कोई गुंजाइश नहीं, वह तो देखने का धोखा ही हो सकता है।

सृष्टि के आदि की दूसरी भी कई अधिक अर्थमयी कल्पनायें हैं – जैसी नासदीय सूक्त में मिलती है, जहाँ सृष्टि के आदि को सत्–असत् दोनों कोटियों से परे रखते हुए उसकी प्रवर्तना को तपस् और कामना (काम) से जोड़ा गया है। सृष्टि के आदि को, उसके किसी निर्धार्य स्वरूप को वह सूक्त रहस्यमय ही रखता है (सच कौन जानता है? कौन यहाँ बता सकता है। क्यों यह सृष्टि हुई, कहाँ से आई। ...... जिससे यह सृष्टि आई। हो सकता है वह इसका धारण करता है। या नहीं करता। परम व्योम में जो इसका अध्यक्ष है। वह जानता है, या वह भी नहीं जानता)। ऐसी दृष्टि के भीतर संभावनाओं के, सृजन के द्वार खुले रहते हैं। विज्ञान की सृष्टि–उत्प्रेक्षा में ऐसा कुछ नहीं। वह इस घटना की उत्प्रेक्षा करता है, पर इस कल्पना को घर देकर एक गहरे, प्रच्छन्न संकोच का अनुभव भी करता है। विज्ञान आदि विस्फोट को एक अनन्य, अद्वय घटना कह कह कर चुप्पी साध लेना चाहता है। विस्फोट के बारे में किसी क्यों की बात विज्ञान के लिये विभीषिका है : उसके विचार की निर्‌ऋति है। विज्ञान जगत् के भौतिक तत्त्वों का अपनी तरह से निर्धारण करने के बाद अगत्या विस्फोट तक पहुँचता है। विस्फोट किसी भी कारण से हुआ हो, उसके होने में रहस्य की कोई बात नहीं हो सकती– वह विज्ञान–व्याख्येय जगत् का ही आदि–रूप था। इससे यह भी उभरता है कि उस आदि विस्फोट को विज्ञान के विचार की आदि–प्रतिज्ञा के रूप में भी देखा जा सकता है : जगत भौतिक तत्त्व का नियत प्रवर्तन है।

यहाँ शल्य जी कहते हैं कि एक दूसरी भी प्रतिज्ञा हो सकती है जो कहीं अधिक उर्वर व्यापक है–भाव और भाव्य दोनों को समेटती है : यह कि जगत् चेतना का जगद्भाव में कामना–रूप प्रवर्तन है। विज्ञान के लिये चेतना जड़ में रासायनिक क्रिया से होता विकार है– उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं। यह दृष्टि चेतना के लिये अवकाश नहीं छोड़ती। पर विचार की ऐसी कारा में अपने को बंद कर लेने की कोई बाध्यता नहीं। फिर चेतना अगर जड़ का ही विकार है तो कोई भी गवेषण – विज्ञान की भी– जड़ की निरर्थक रासायनिक क्रिया ही रह जाती है– चाहे उसे बड़ी जटिल क्रिया ही क्यों न कह दीजिये। फिर तो सत्य, मिथ्या, प्रमाण– इन प्रत्ययों का कोई

अर्थ ही नहीं रह जाता क्योंकि हमारी स्वतंत्र गवेषणा ही जड़–परतंत्र होकर एक भयंकर छलावा रह जाती है। पर हममें स्वतंत्र गवेषण है तो उसके साथ जगत् क्यों है ? गवेषण का यह मूलभूत प्रश्न भी सहज उद्भूत होता है– विज्ञान भी इससे अछूत नहीं रह पाया है। अर्थ–संधान में लक्ष्य–उद्देश्य–प्रयोजन का संधान अंतर्निहित होता है। यों भी यह प्रश्न सहज है : जगत् क्यों है ? हम क्यों हैं ? कुछ भी क्यों है ? नहीं भी तो हो सकता था। यह प्रश्न होने के स्वरूप की जिज्ञासा का अंग है। प्रश्न में यह व्यंजना है कि होना अर्थमय है। निरर्थक होने में और नहीं होने में अंतर ही क्या ? तभी कामना को सृष्टि का निमित्त कहा जा सकता है– कामना अर्थ–संधान की ही उन्मुखता है। पर यहाँ एक दूसरा प्रश्न आगे आता दिखता है : सृष्टि–प्रवर्तन का मूल चेतना में देखें तो नितांत अचेतन भौतिक जगत् को कैसे समझेंगे? स्पष्ट ही, जीव–सृष्टि से पहले भौतिक सृष्टि विद्यमान थी, तो जगद्भाव से सृष्टि का प्रवर्तन कैसे माना जाये ?

भौतिक को समझने के यहाँ दो रास्ते हो सकते हैं। एक अपेक्षया सहज समझ यह हो सकती है कि भौतिक चेतना की प्रसुप्त अवस्था है – चेतना का तमस् भाव, जिसमें चेतना अव्यक्त रूप से रहती है और फिर जगद्भाव में व्यक्त होती है और विषय–विषयी का रूप लेकर विषयित्व में जागते हुए विषय में मग्न हो जाती है : यही चेतना का जगद्भाव है। आत्मचेतना में विषयी अपनी ओर निवर्तित होता हुआ अपने विषयी–भाव को विषय के रूप में देखता–जाँचता, नियोजित कर सकता है। और तभी पशु–भाव में वह जिस विषय में निमग्न रहता है उस विषय से तटस्थ होकर उसे इदम् या तत् के रूप में अपने सामने रख कर देख सकता है – यह जगद्भाव से उबरने का भी लक्षण है। अब भौतिक पर आइये। भौतिक को विषय–विषयी भाव में उद्भिन्न चेतना का विषयमात्र कहा जा सकता है : ऐसा विषय जो विषयी से सर्वथा विच्छिन्न अपने–आप–में–स्थित के रूप में कल्पित है। स्पष्ट ही 'विषयमात्र' या 'विशुद्ध विषय', यह कल्पना ही हो सकती है, क्योंकि विषय–विषयी भाव के बाहर अपने आप में स्वतंत्र विषय का क्या अर्थ होगा? वह विशुद्ध तमस् के सिवा क्या हो सकता है – ऐसा सत् जिसे असत् से अलग नहीं किया जा सकता। पर यह भी सोचिये कि आत्मचेतना के तटस्थ–भाव में बसती विचार–चेतना के लिये ऐसे स्व–स्थित विषय की कल्पना स्वाभाविक है – यह विषय के प्रति तटस्थता का चिन्ह है। ऐसे विशुद्ध विषयत्व या स्वप्रतिष्ठ इदम् को कई तरह से समझने की

कोशिश की गई है। पर ऐसी कोई भी समझ विचार की एक विशुद्ध धारणा ही हो सकती है। इद्‌म को विचार के लिये अज्ञेय के रूप में देखना तो विचार की सहज उद्‌भावना कहा जा सकता है – स्वप्रतिष्ठ इदम् वह है जो विषयी का प्रतीप है – जिसे उसका निषेध भी कहा जा सकता है – यहाँ विषयी की, और यों विचार की पहुँच हो ही नहीं सकती। पर यह धारणा भी विचार की ही है। दूसरी धारणायें भी हैं जो इसे विचार से बाहर स्व–स्थित के रूप में देखते हुए भी विचार से पकड़ना चाहती है – बौद्धों की प्रत्यक्षगत निर्विकल्प स्वलक्षण की धारणा ऐसी ही है। निर्विकल्प स्वलक्षण विशुद्ध विषय–विषयी के ग्राह से मुक्त तथागत बुद्ध की चेतना का ही 'विषय' हो सकता है – या यों कहिये कि उसी में 'जाग' सकता है, या उसी की 'उपलब्धि' हो सकता है। कांट बात को एक अलग मोड़ देते हैं : उनके लिये स्व–स्थित जगत् प्रत्यक्ष के परे स्थित प्रत्यक्ष का स्वरूपेण–परोक्ष अधिष्ठान है – यह अधिष्ठान स्वलक्षण की तरह ही निर्विकल्प है, पर विचार में इसकी स्वीकृति के बिना जगत् निराधार विचार–कोटियों की कोरी कल्पना हो जायेगा, जो कांट को अभीष्ट नहीं। विज्ञान की धारणा इन दोनों से भिन्न है – वह भौतिक को ही सत् के रूप में स्थापित करता हुआ उसका अपने आप में संधान करता है। इस सत् को विज्ञान बौद्धों की तरह इन्द्रिय प्रत्यक्ष का ही विषय मानता है पर इन्द्रियों के ग्रहण से इन्द्रियग्राह्‌य गुणों का निवारण करता हुआ उसे विशुद्ध विषय के रूप में देखना चाहता है। पर इस इन्द्रियग्राह्‌य विशुद्ध विषय को विशेष गणितगत विचार तंत्र के भीतर ही समझा जा सकता है जहाँ विषय संख्या, परिणाम और ज्यामिति के नितांत इन्द्रिय–शून्य उद्‌ग्रहीत (वस्तु–शून्य ऐब्स्ट्रेक्ट) विकल्पों में ही ग्राह्‌य होता है। इन्द्रियों का काम वहाँ संकेत–ग्रहण है, जिस संकेत का अर्थ विज्ञान के विचार तंत्र के भीतर ही बनता है – इन्द्रिय अपने आप में विषय के सत् को विकृत ही करती है। पर विज्ञान का संधान उपयोज्य यांत्रिकी का पसारा भी बढ़ाया चलता है। यांत्रिकी के कारण ही उसकी सत्य के रूप में महिमा है, उसकी सफलता ही उसका प्रमाण माना जाता है। विज्ञान का विशुद्ध स्वप्रतिष्ठ विषय को अपने आप में जानने का आदर्श विषयी का निषेध ही नहीं, संपूर्ण बहिष्कार तक करना चाहता है। विषयी की व्यक्तिनिष्ठ सकाम बाधक प्रवृत्तियों का बहिष्कार किसी भी विषय–गणेषणा का आवश्यक अंग कहा जा सकता है, पर विषयी का ही निराकरण तो अंध तमिस्रा को ही निमंत्रण है।

यहाँ एक छोटी सी टिप्पणी करता हुआ आगे बढ़ना चाहता हूँ। मनुष्य की आत्मचेतना को समझने के लिये उसे पशुचेतना के संदर्भ में जिस तरह शल्य जी ने रखा है, किसी और विचारक ने ऐसा नहीं किया है। इससे आत्मचेतना का अपूर्ण उन्मेषमय रूप उभर कर उजागर होता है।

हमारी कोई भी समझ चाहे भौतिक जगत् की ही समझ सही, मनुष्य की किसी भी गवेषणा की तरह चेतना को बल्कि चेतना के आत्मचेतन स्वातंत्र्य को – अधिष्ठातृ के रूप में केन्द्र में रख कर चलती है। विचार में रूप लेती है। चेतना का पशु–भाव से उबर कर आत्मचेतन होने का एक प्रधान लक्षण ही आत्मचेतना में विचार का जागना है। जगद्भाव में निमग्न विषय–सात् चेतना अब विषय–निमज्जन से उन्मग्न होकर विषय को अपने सामने, अपने से अलग रख कर देख पाने में समर्थ होती है। इस देखने का माध्यम विचार होता है। हम पाते भी हैं कि विचार का माध्यम भाषा आत्मचेतना के साथ ही उन्मिषित होती है। भाषा स्वरूप से ही आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुखता में स्थित देखी जा सकती है।

इस पर कहा जा सकता है कि नाम जो भाषा के साथ हममें रूप लेता है और जिसके बिना हम इन्द्रियगम्य जगत् की कल्पना नहीं कर सकते, वह अन्ततोगत्वा अपने अर्थ के लिये इन्द्रिय–ग्राह्य विषय को ही लक्ष्य बनाता है– 'इन्द्रिय–पर्वसायी' होता है। पर यह देखिये कि विचार का आयाम कई स्तरों पर काम करता हैं – सिद्ध ही नहीं साध्य को भी धारण करता है जिसे इन्द्रिय–सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। 'क्या है' ही नहीं, 'क्या होना चाहिये', क्या उचित है, श्रेयस् है', यह भी विचार में अवधार्य होता है – निरिन्द्रिय ही होता है। विचार की निरिन्द्रियता भाषा में ही देखी जा सकती है जो विचार का वाहन होती है। हम जब अन्तर्जल्प करते हैं या विचार करते हैं तो भाषा अंतर में ही निरूच्चार व्यापृत होती है – इसे मध्यामा वाक् कहा जा सकता है। पर भाषा के और भी ऊर्ध्वतर स्तरों की बात की गई है। यह स्वाभाविक है। मध्यमा–वाक् से ऊर्ध्वतर स्तर तो एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करते हुए ही देखा जा सकता है। अनुवादक की भाषा–चेतना दोनों भाषाओं से ऊपर भाषा–रीती रहती हुई उपयुक्त शब्द की खोज करती है। तब हम दोनों भाषाओं से ऊपर उठे हुए उस अर्थ को टोहते हैं जो भाषा से ऊर्ध्व होता है, पर भाषा में रूप लेता है। 'ठीक' शब्द नहीं आया है, यह बोध भाषा–चेतना के मध्यमा से भी ऊपर के स्तरों की ओर इंगित करता है। ऐसे प्रयासों में आत्मचेतना का प्रत्यङ्मुख पश्यत्–भाव देखा जा सकता – तभी पश्यंती

वाक् की बात की गई है। चेतना के इस स्तर पर हम सहज ही और भी परे का संकेत पा सकते हैं। यहाँ हम यह संकेत भी पा सकते हैं कि चित् हमारे विषयित्व में रूप लेता हुआ विषयता लाभ करता है।

पर हममें में विचार और उसकी सहज विप्रतिपत्तियों के प्रति एक गहरा संशय भी है। 'विचार सत्य का ग्रहण नहीं कर सकता' – यह बोध विचारकों में ही नहीं है, लोक–साधारण है। पर आत्मचेतना के लिये विचार ही विषय की समझ का आधार होता है – यही विषय का विषय–रूपेण ग्रहण करता है। जीवभाव के इन्द्रियग्रहण में ग्राह्य की किसी तथता का बोध ही नहीं था। विज्ञान– जिसे हम तथता के बोध का प्रमाण मान बैठे हैं – वह भी आत्मचेतन गवेषणा है – वह भी इस तथता का ग्रहण विचार से ही करता है। 'निश्चेतन भौतिक पदार्थ या जड़ जगत्' यह विचार की ही एक धारणा या प्रत्यय है। जो चेतना विचार नहीं कर सकती उसके लिये 'भौतिक जगत्' की कोई धारणा नहीं हो सकती – फलतः उसके लिये ऐसे जगत् के 'स्वस्थित वस्तुत्व' की भी बात नहीं उठ सकती। पशु चेतना के लिये जगत् के 'अपने–आप में होने' का, उसकी तथता या सत्व का कोई अर्थ नहीं है। वस्तु की स्वतंत्र तथता का बोध आत्मचेतना के साथ ही रूप लेता है, और विचार के माध्यम से रूप लेता है। पशु–चेतना का विषयी विषय से हट कर विषय का वीक्षण नहीं कर सकता। इसलिये उसका विषय 'विषयी की विषय–लिप्सा' से अलग अपने आप में कुछ के रूप में भासित ही नहीं होता। ऐसा आभास आत्मचेतना में ही संभव होता है जहाँ हम अपने को अपने से प्रत्यक् होकर अपने प्रति चेतन हो पाते हैं – इस व्यापार में विषयी द्रष्टा चेतना के लिये विषय–रूप विषयी हो जाता है। इस विषयी भाव का माध्यम विचार होता है। पर भूलना नहीं चाहिये कि अब अर्थ–लोक इन्द्रियार्थ तक सीमित नहीं रहते और विचार ही इन लोकों का अवगाहन कर सकता है। हम देख आये हैं कि आत्मचेतना में हम अस्मि का अस्मत् प्रत्यय के रूप में बोध करते हैं। यह बोध प्रत्यय के रूप में इसलिये उभरता है क्योंकि आत्मचेतना विचार चेतना भी है। आत्मचेतना का अपने से तटस्थ होकर अपना वीक्षण – उसका आत्मदर्शी आत्मद्वैत – प्रत्यय या शब्द को माध्यम बनाता है जिसका अर्थ सामान्य होता है। तभी हम अपने अस्मत् को अस्मत् सामान्य का एक विशेष पाते हैं – अस्मत् समाज के बीच एक अस्मत् : अस्मत् या यों अस्मत् प्रत्यय हो पाना विचार–चेतना के ही कारण है। तभी शल्य जी ने विचार को आत्मचेतना की इन्द्रिय कहा है। विचार वीक्षण सामान्य में

स्थित होता है -- शब्द का संकेत ही सामान्य की ओर होता है। तभी विचार–चेतना मेरी नहीं होती, निर्वैयक्तिक सामान्य चेतना में घर करती है। हम अपनी व्यक्तिगत आसक्तियों, रूचियों, अभिनिवेशें से जितना ऊपर उठ पाते हैं उतना ही विचार में खुल पाते हैं। विचार की निर्वैयक्तिकता इस बात का भी चिन्ह है कि आत्मचेतना में व्यक्ति–चेतना नहीं, चित् ही अपनी ओर मुड़ता है – पशु–चेतना के जगद्भाव से अपने को एक महत् उत्क्रान्ति के साथ उन्मुक्त करने की ओर बढ़ता है। पशु–भाव का इन्द्रिय विद्ध विषयसात् विषयी ही अब अस्मत् प्रत्यय ही नहीं हो जाता, विषय मात्र अब प्रत्यय का रूप ले लेता है। विशेष हमारे लिये किसी सामान्य के अंतर्गत विशेष होता है। विचार–चेतना जगत् को सामान्यों में ही नहीं देखती, सामान्यों की एक योजना में उसका आकलन करती है – जो हमें इन्द्रियों से और दूर ले जाती है। अर्थ का अपना एक लोक बनाती है। विज्ञान ऐसी ही एक योजना है – सत् की जिज्ञासा का एक अर्थलोक है, जहाँ विचार वस्तु को एक दृष्टि और प्रयोजन विशेष से एक योजना में बुनता है। पर आत्मचेतना के साथ और भी अर्थलोक खुलते हैं जिनकी थाह भी विचार ही लेता है – श्रेयस या नैतिकता, दर्शन, धर्म, कला, अध्यात्म ...। (शल्य जी की दृष्टि में कला विषय नहीं है, विषयी–भाव में रहते हुए ही विषयित्व के अर्थ का प्रत्यय रूपेण अवगाहन–अन्वेषण–अभिव्यक्ति है। यहाँ स्वर, रंग–रूप, रेखा आदि भी शब्द की तरह प्रत्यय का रूप ले सकते हैं। पर विचार को चेतना की दृष्टि का माध्यम मानते हुए उसे व्यापक अर्थ में लिया जा सकता है – शल्य जी ऐसा करते ही हैं)। चेतना का हर अर्थलोक अपने में एक अथाह का वहन करता है और निर्व्यैक्तिकता की गहरी मांग करता है। इसका इंगित यही है कि इनमें चेतना या चित् अपने ही अर्थों को मानो खोजती चलती है। तभी हम यह भी पाते हैं कि आत्मचेतना के साथ जागते अर्थ–लोक किसी नियत, पूर्वप्रदत्त अप्रकाशित का प्रकाशित हो जाना मात्र नहीं हैं – जैसे अंधकार में छिपे अव्यक्त का व्यक्त हो जाना। इसे अपने को खोजते हुए अपना ही सृजन भी कहा जा सकता है – पर अपनी खोज में भ्रांति या भटकाव भी हो सकता है।

इसका प्रतिमान भी हम विचार में देख सकते हैं। विचार अपने आप को और अपने विषय के सत् को खोजता है। पर इस खोज में भटकाव, भ्रांति आत्मप्रकट रहते हैं। तभी समझ विभिन्न ही नहीं, परस्पर प्रतीप रूप भी ले सकती है – भ्रांत हो सकती है। पर भ्रांति का होना सत्य के होने को

पूर्वगृहीत भी रखता है। पर, थोड़ा गहरे उतर कर देखिये तो विचार का होना ही चेतना के आत्मसृजन का एक अभूतपूर्व सत् कहा जा सकता है। इसे ग्राहक विषयी में जागते स्वतंत्र स्वगत व्यापार के रूप में देखा जा सकता है। आत्मचेतना विचार–चेतना में ही आत्ममनन ही नहीं करती, इसी माध्यम से उन अर्थ–लोकों की सृष्टि भी करती है, जिसकी हम ऊपर चर्चा कर आये हैं। दर्शन, काव्य, कला, धर्म, आध्यात्म के अर्थलोक पशु–चेतना के जगद्भाव में नहीं हो सकते जहाँ विषयी विषय–गत ही रहता है तो विचार–हीन भी रहता है। विचार–चेतना की संभावना ही चेतना के जगद्भाव से ऊपर उठ जाने का इंगित है, क्योंकि यह पशु–सर्वस्व लिप्साओं और आसक्तियों से हट पाने का भी लक्षण है – चेतना के कामनामूल प्रवर्तन से निवृत्ति का प्रतीक है। चेतना प्रत्यङ्मुख होकर विचार के माध्यम से ही अपने अर्थों की खोज करती है। अब चेतना की पराङ्मुखता भी विचार चेतना के माध्यम से ही होती है। तभी कला जैसे अर्थ–लोक संभव होते हैं – चेतना का विषय अब चेतना का अर्थ हो जाता है। इन्द्रिय विषय भी अब विचार–निष्ठ हो कर अनंत अर्थों के आयाम में उन्मिषित होता है। विज्ञान और तत्–संश्लिष्ट यांत्रिकी ही नहीं, कलायें भी इसी से संभव होती हैं – रूप, रंग, वर्ण, ध्वनि, वस्तुओं का घनत्व, उनका देश– संस्थान और विन्यास यों अब चित्र, संगीत, मूर्तिकला, वास्तु... के नये अर्थमय में अनंत संभावनाओं से मंडित हो जाते हैं। पर अब ऐसे भी अर्थ लोक खुलते हैं जो इन्द्रियगत होते ही नहीं। विचार का अपना लोक ही इन्द्रिय–सीमित नहीं है – हालांकि आत्मचेतना, भाषा–चेतना, विचार–चेतना ये निर्वैयक्तिक हैं, हममें रूप लेते हैं – ये चित् के ही रूपायण हैं। इन्हें किसी बाह्य कारण का परतंत्र माना जाये तो इनको हम समझ ही नहीं सकते। इन्हें व्यक्ति–चेतना में नहीं, अतिक्रामी चित् में आई उत्क्रांति के रूप में ही देखना चाहिये जो मनुष्य जाति में रूप लेती हुई मनुष्य–व्यक्तियों में, समाज–संस्कृतियों में प्रकट होती है।

विचार बड़े आत्मबोध के साथ अपने को देखता, अपने पर ही विचार करता अपने से ऊपर उठता चला जाता है। विचार के अपने ही रूप होते हैं, जिनके अपने संस्थान, अपने संबंध होते हैं, जिनके विचार अपने भीतर उतर कर अवगत होता है – जिन पर प्रश्न उठा सकता है, जिन्हें बदल सकता है, जिनसे हट कर नई दिशा ले सकता है। विचार का विषयित्व निरंतर अपने पीछे हटता हुआ अपने सारे व्यापारों को विषय की तरह देखता है। इस प्रक्रिया में विचार गहराता है, व्यापक से व्यापकतर हो जा सकता है – और

इसका बोध विचार में जागता है। यों अपने ही अगाध की ओर बढ़ता विचार का विषयित्व अपने परे का इंगित पाता है – जो उसके परे उसका चित्–स्रोत है। विचार पर विचार का कहीं अंत दिखाई नहीं देता। लेकिन उसमें अपने परे का एक संकेत बसता है, एक पहुँच–से–बाहर रहता उत्स जहाँ से मानो वह उद्भूत होता, अपने को अपने सामने रखता हुआ अपने पर मनन करता चलता है। उसका यह अगाध आत्मद्रष्टृत्व आत्मचेतना का लक्षण और साक्षी ही नहीं, उसके आत्मसर्जन का अलक्ष्य, अनिर्वचन स्रोत भी कहा जा सकता है। यह स्वरूपेण अतिक्रामी स्रोत ही चित् है। विचार की प्रत्यङ्मुखता में यहाँ चेतना की प्रत्यङ्मुखता का आत्मस्फुट इंगित है। हम स्पष्ट ही आत्मचेतना के आत्मनिवर्तन को निस्सीम भी पाते हैं। आत्मचेतना अपने पीछे हटती अपने प्रति उजागर रहती है और यह क्रम अनंत है – पर विचार को ध्यान में रखें तो यह केवल क्रम ही नहीं हैं – अपनी ओर निवर्तित चेतना के अर्थ–विस्तार की भी सूचना है – जैसे भूमा के खुलते क्षितिज का विपुल होता चलना – जो अपने परे बृहत्तर क्षितिज को इंगित करता चलता है। आत्मचेतना की हर वृत्ति में हम इस भूमा के अपार दिगंत का परिचय पाते हैं – काव्य, कला, विज्ञान, श्रेयस्–बोध, अध्यात्म, ये सभी क्षेत्र चेतना की प्रत्यङ्मुखता के आकाश में रूप लेते हैं। ध्यान देने की बात यह भी है कि विचार इन सभी क्षेत्रों की आत्म–अवगति का माध्यम होता है। दर्शन में विचार इन सभी क्षेत्रों को एक विपुलतर अवयवी–बोध के साथ गुंफित करता है। दर्शन को विचार का आत्ममनन कहा जा सकता है।

चेतना की प्रत्यङ्मुखता की एक बड़ी सपाट, आयाम–हीन समझ में देखने में आती है – जैसी कि अनुव्यवसाय की नैयायिक धारणा में। अपने जानने को जानना और इस द्वितीय कक्षा के जानने की जानना, अनुव्यवसाय का यह क्रम कक्षा–दर–कक्षा बढ़ता हुआ अनंत हो सकता है। यह निरवस्थ भी है। इसलिये कहा गया है कि दो–तीन कक्षाओं के बाद पीछे हटना निरर्थक है। अनुव्यवसाय की धारणा को विषय–मुख कह सकते हैं। पर इसीके समकक्ष एक विषयी–मुख धारणा भी है : 'स्वसंवेद'। 'स्वसंवेद' 'आत्मचेतना' का पर्याय लग सकता है, पर इसमें शल्य जी की धारणा की आत्मसमृद्धि नहीं है। यह 'अनुव्यवसाय' जैसा ही सपाट है। इसकी प्रत्यङ्मुखता की वैसी ही छवि उभरती देखी जा सकती है जैसी अनुव्यवसाय की। 'मैं अपने को जानता हूँ', 'अपने' जानने को जानता हूँ, उस जानने को भी जानता हूँ' ... यह अपने को निरर्थक दोहराता एक निरायाम रेखा जैसा

क्रम अनुव्यवसाय की तरह ही अनवस्था की ओर बढ़ता चला जा सकता है। पर इसके आनन्त्य का कोई अर्थ नहीं। तभी स्वसंवेद के बारे में भी कहा गया है कि दो–तीन कक्षाओं के बाद इसे और बढ़ाने का कोई तात्पर्य नहीं। ऐसे क्रम की उपमा आमने–सामने रखे दो दर्पणों के बीच रखी किसी वस्तु से या बीच खड़े किसी की देह से दी जा सकती है। हम पायेंगे कि वस्तु – या देह – के एक के पीछे एक अनंत प्रतिबिम्ब उभरते हैं, जो पीछे हटते चले जाते हैं, कक्षाओं के ऐसे क्रम में जिसका कहीं अंत नहीं। बल्कि विम्ब जितना पीछे हटता है, उतना ही दुर्लक्ष्य होता जाता है, उतना ही अनपहचान। वस्तु को या आत्म को प्रकट से अप्रकट, धुँधला करता चला जाता है। पर आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुखता अपने भीतर जितना उतरती है, आत्म और विषय दोनों के अर्थों को और गहराती, बढ़ाती–फैलाती चलती है। उसे हम अधिकाधिक चित्–सत् के अद्वय की ओर उन्मुख पाते हैं।

बाह्य इन्द्रिय–विषय को नाम में देखना विचार–चेतना का पहला चरण है। पर इस वृत्ति में वह ताटस्थ्य भी रूप लेता है जो विषय को विषय बनाता है, वस्तु को वस्तुत्व देता है। यह विचार–चेतना के अध्यवसाय में ही रूप लेता है और नाम–रूप के युगनद्ध बोध के साथ जागता है। पर यहाँ से अपने पर विचार करता, प्रश्न उठाता, समाधान की योजनायें बनाता अपने अतल की ओर बढ़ता चला जाता है : पर इसका भान भी हमें उस आत्मचेतना में ही होता है जो स्वरूपेण प्रत्यङ्मुख है : जो विषयी–विषय–भाव का अनंत सोपान अपने सामने प्रस्तुत करती चली जाती है – और यों स्वरूपतः इस व्यापार से परे है। पर चेतना – या चित् – की इस आत्मप्रस्तुति को – उसके आत्मरूपायण को – उसका सत् कहना चाहिये। विषयी–विषय में प्रस्फुटित चेतना जब जगद्भाव में रूप लेती हुई विषय–काम रहती है तब उसकी कामना ही उसका सत् होती है पर विषय से तटस्थ होकर आत्मचेतना जब अपनी ओर मुड़ती है तो इन्द्रियार्थ का सत्–अर्थ कई आयाम, कई सार्थकताओं में जाग उठता है। सामने बहता नदी का जल विज्ञान का विषय हो सकता है – विज्ञान जन्य यांत्रिकी के सहारे उसके प्रयोजन का विस्तार भी हो सकता है : नहर, बाँध, विद्युत्–उत्पादन और ऐसे ही कई उपयोगों का विषय हो सकता है। काव्य और अध्यात्म के लिये नदी समर्थ रूपक है, धर्म के लिये दैवी प्रवाह। इन्द्रियार्थ मात्र अब बहु–अर्थ मंडित हो जाता है। अर्थों का यह वैभव इन्द्रियार्थ का सत् ही है जो आत्मचेतना का विषयी अपने विषय में खोज पाता है। इस विषय–विषयी की प्रत्यङ्मुखता अपने पेर जो इंगित

करती है उसमें हम एक अद्वय चित्–सत् को विषय–विषयी भाव में उद्घाटित होता पा सकते हैं। पर सत् अब इन्द्रियार्थ तक सीमित नहीं रहता – बल्कि इन्द्रियार्थ अब अपने परे का संकेत वहन करते हैं, जैसा नदी के दृष्टांत से ही स्पष्ट है। पर सत् का किसी न किसी रूप में इन्द्रियों को आधार बनाना, यह जरूरी नहीं है, जैसा कि दर्शन का पुराना और रूढ़ संस्कार है। अब चेतना के स्वतंत्र नितांत निरीन्द्रिय अर्थ भी उद्घाटित होते हैं – जैसे श्रेयस्–बोध में, जिसका प्रमाण स्पष्ट ही इन्द्रिय में नहीं, चेतना के अपने प्रत्यङ्मुख आत्म में होता है।

यहाँ बर्गसों का पक्ष लेकर कहा जा सकता है कि पशुओं में एक सहज, साक्षात् ज्ञान होता है जो विचार के उस तटस्थ, वस्तु का वस्तु–शून्य विकल्प–व्योम रचते ज्ञान में संभव नहीं जो अपने उद्ग्रहणों में वस्तु के वस्तुत्व से ही विच्छिन्न हो जाता है – जैसे ज्यामिति में जहाँ बिन्दु या रेखा देश का ग्रहण ऐसे प्रत्यय के रूप में करते हैं जो देश को देश–हीन कर देता है। इसे विकल्प निष्ठ विचार की बाध्यता कह सकते हैं, जिसकी कारा से वह छूट नहीं सकता। पशुओं की आँख पर विचार का ठीकरा नहीं होता तो उनमें ऐसा वस्तुनिष्ठ वस्तु ज्ञान होता है जहाँ विचार–चेतना की पहुँच नहीं हो सकती, विचार हमें ऐसे ज्ञान से स्वरूपेण व्यवहित कर देता है। पशुओं का निर्विकल्प ज्ञान उनके जीवन में घुला रहता है – कह सकते हैं कि उनके जगद्भाव का अंग होता है। उसे अलग से विचार जैसे परोक्ष 'माध्यम' या द्वार की आवश्यकता नहीं होती। इस निर्विकल्प ज्ञान के कुछ विशिष्ट और चौंका देने वाले उदाहरण इसका गहरा परिचय देते है। जैसे पक्षियों के हजारों मील के प्रवास, जहाँ पंथ और लक्ष्य का ज्ञान उनकी प्रवास प्रवृत्ति में ही गुँथा होता है – उनके होने से ही अभिन्न होता है। ऐसा अपरोक्ष निर्विकल्प ज्ञान एक पूरी पेचीले गुंफ में बंधी व्यवस्था को पिरोता भी दिखाई दे सकता है। मधुमक्खियों का छत्ता, उनका संहत व्यवहार देखिये या चींटियों को देखिये – कैसी प्रत्यंग–सुढर, जटिल–पर–सुषम योजना वहाँ दिखाई देती है – और यह विचार अव्यवहित विगत–विकल्प ज्ञान का फल है, जो जीव–चेतना के जीव–भाव में ही निहित होता है। मधुमक्खी या चींटी समष्टि की हर घटक मधुमक्खी या चींटी जानती है कि उसे क्या करना है– उसके करने में और जानने में कोई अंतर नहीं होता। उसकी समष्टिगत जिजीविषा में उसका ज्ञान निविष्ट रहता है – विचार की तरह विकल्प का अलग प्रपंच नहीं बुनता। जीव–मात्र में ही ऐसा प्राण–प्रवाह–में–बसा ज्ञान

निविष्ट रहता है – विचार की तरह विकल्प का अलग प्रपंच नहीं बुनता। जीव–मात्र में ही ऐसा प्राण–प्रवाह में बसा ज्ञान पाया जाता है, पर एक और विलक्षण उदाहरण लीजिये। ततैयों की कुछ प्रजातियाँ अपने लार्वा–बच्चे किसी कीड़े या मकोड़े के भीतर जनती हैं ताकि वह कीड़ा जनमने वाले लार्वा का खाद्य भी हो सके। ऐसा मांस जिसकी जीती–जागती ताजगी भी बनी रहे। इसके लिये ततैया उपयुक्त कीड़े को बड़ा सधा और बड़े सही स्थान पर ऐसा डंक मारता है कि कीड़ा बेहोश हो जाये पर मरे ना। इसे निर्विकल्प 'विशेषज्ञता' का एक मूर्धन्य दृष्टांत कहा जा सकता है। हमारे लिये यह ज्ञान नितांत विचार–कंटकित होता है – बल्कि विचार के ऐसे व्योम में बसता है जो गणित की वस्तु से अछूती, विकल्प–मात्र–सार अवधारणाओं के बिना संभव नहीं। हम वस्तु से दूर हट कर अपनी उद्ग्रहीत (ऐब्स्ट्रेक्ट) वस्तु–कल्पना के भीतर से वस्तु को पकड़ते हैं।

कहना न होगा कि बर्गसों विचार–जनित उस आत्मचेतन सम्पदा की नितांत उपेक्षा कर रहे हैं, जिसकी हम ऊपर चर्चा कर आये हैं। यह भी न भूलिये कि विचार के माध्यम से हम प्रकृति का भी जैसा सूक्ष्म ज्ञान पा लेने में और उसे अपने प्रयोजनों के लिये नियोजित करने में समर्थ हो पाते हैं, पशु के सहज–ज्ञान में इसकी एकांश क्षमता भी नहीं होती। विचार वस्तु से तटस्थ हो कर ही ऐसा कर पाता है, उसमें निमग्न रहता हुआ नहीं। पशु में हम ज्ञान की बात करें भी तो उस ज्ञातृत्व में जीने और जीते रहने से संश्लिष्ट आवेगों और प्रजनन वृत्ति के परे अर्थ का कोई स्वायत्त आयाम नहीं होता। उस ज्ञान का जिजीविषा से ऊपर उठी किसी जिज्ञासा, प्रश्न, कल्पना, गवेषणा... से संबंध नहीं होता। इसके बिना 'ज्ञान' की बात करना भी एक उपचार मात्र कहा जा सकता है। ज्ञान विचार चेतना में ही संभव है।

कहना न होगा कि बर्गसों का निर्विकल्प पशु–चेतना में निहित जगत्–बोध की सूचना है। इस चेतना में विकल्प की बात ही निरर्थक है। पर कई विचारक विचार करते हुए भी विकल्प या विचार–बोध को वस्तु के बोध में आधारगत व्यवधान मानने की दिशा लेते दिखते हैं। कहते हैं कि विचार से वस्तु का बोध हो ही नहीं सकता क्योंकि वह वस्तु बना देता है। यों स्वरूप से सत् का व्यवधान है। विचार–चेतना की आँख शब्दमय प्रत्यय हैं जो सामान्य होते हैं, शब्द सामान्य का ही धारण कर सकता है, जबकि वस्तु सामान्य नहीं होती। जगत् विशेष रूप है, वस्तुएँ विशिष्ट होती हैं और इन्द्रियों को इस विशेष का प्रत्यक्ष होता है – विचार का सामान्य इस विशेष सत् को झुठला देता है।

पर इस दृष्टि के संदर्भ में यह भूलना न चाहिये कि इन्द्रियों के सत्य–द्रष्टा होने का बोध भी विचार–चेतना के साथ ही जागता है। वस्तु की तथता का – उसके स्वगत वस्तुत्व का बोध – आत्मचेतना की उस प्रत्युङ्मुखता में जागता है जो विषय–विषयी भाव से उठ कर उनकी द्रष्टा हो सकती है, और द्रष्टा–भाव विचार में ही उभरता है, इन्द्रियों में नहीं। विचार के बिना इन्द्रिय–बोध के 'निर्विकल्प' की भी बात निरर्थक है। फिर इन्द्रियाँ मूक होती हैं, उन्हें क्या ज्ञान होता है, इसका निर्णय विचार ही करता है। विज्ञान जो इन्द्रियार्थ के सत् का ही उद्घाटन करने की दिशा लेता है, वह इन्द्रियगत स्पर्श, गंध, वर्ण, घ्राण को नकारता हुआ ही आगे बढ़ता है। यों भी वस्तु का अध्यवसाय इन्द्रिय नहीं करती, विचार–चेतना ही करती है, और अध्यवसाय के बिना वस्तु का वस्तुरूपेणबोध नहीं होता। बात को यों भी देखिये : हमारी विचार–चेतना वस्तु से हट कर वस्तु से स्वतंत्र होती है– तभी उसमें वस्तु –ज्ञान जाग पाता है जो वस्तु–बोध में अर्थ के आयाम खोलता है।

फिर भी यह निष्कर्ष बहुत सायास नहीं कि इस ग्रहण में हम विषय के अपने होने से दूर निकल जाते हैं। विचार की बहुरूपता और विप्रतिपत्ति से यह बोध और भी पुष्ट और प्रमाणित हो जाता है । इससे विचार का अपने प्रति यह संशय भी स्वाभाविक है कि विचार सत् के स्वरूप को आवृत कर देता है – उसके स्वरूप को नहीं देख सकता। और भी गहरे उतर कर यहाँ तक कहा जा सकता है कि विचार चेतना के मर्म में ही एक गहरा द्वन्द्व उभारता है : वस्तु और विचार के बीच – वस्तु की स्वस्थित तथता और उसके अवधारण के बीच। इसे 'विषय' और 'वस्तु–सत्' के बीच बनते व्यवधान के रूप में भी देखा जा सकता है, जहाँ विषय हमारी आत्मचेतना में जागता प्रत्यय–कलित, शब्द को आधार करता बोध है और वस्तु वह है जो अपने आप में कुछ है। विचार का आवरण के रूप में बोध अपनी पराकाष्ठा में जगत् को ही विषय–मात्र का – या प्रतीति–मात्र का – प्रपंच बना दे सकता है। शंकर का मायावाद और वसुबन्धु का विज्ञप्तिमात्रतावाद इसीके उदाहरण हैं। विषयी–भाव में पलती अविद्या या वासना विचार चेतना के माध्यम से नाम–रूप का मिथ्या जगत् खड़ा करती है जो वस्तु को, सत् को, उसके स्वस्थित, 'स्वलक्षण' स्वरूप को कल्पना का प्रपंच बना देती है। पर यहाँ देखने की बात यह भी है कि यह सारा ऊहापोह विचार में ही जागता है, विचार के बिना अकल्पनीय है – वस्तु के स्वस्थित तत् स्वरूप या तथता का

बोध ही विचार चेतना के बिना अकल्पनीय है – यह बोध उसी चेतना में जागता है जो विचार की आँख से वस्तु को देखती है। पर वस्तु के प्रति एक सहज बोध यह भी है कि वस्तु विशेष होती है। विचार वस्तु को अपने सामान्य प्रत्यय में ढाल कर उसे मिथ्या रच देता है। सामान्य के माध्यम से हमारी विचार–चेतना वस्तु के अपने स्वगत विशेष सत्य स्वरूप पर कल्पना का, असत् का पर्दा डाल देती है। हमारे वस्तु बोध को विकल्प–व्यवहित परोक्ष बना कर उसे छलावा कर देती है। साक्षात् बोध निर्विकल्प बोध ही हो सकता है। ऐसा बोध इन्द्रियों को होता है जिन्हें स्वस्थित स्वलक्षण वस्तु का प्रत्यक्ष होता है – अव्यवहित साक्षात्कार होता है। पर इन्द्रियों के सीधे अपरोक्ष साक्षात्कार का क्या अर्थ? इन्द्रिय–बोध विचार में ही आत्मचेतन होता है – अपने आप में इन्द्रियाँ मूक होती हैं, या विषय–निमग्न रहती हैं– या विषय–लिप्सा से अभिभूत रहती हैं। पशु में यही स्थिति है। वहाँ विषय क्या है, यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह प्रश्न आत्मचेतना के साथ जागता है जहाँ चेतना अपने जैव विषय–विषयी भाव से हट कर उसकी द्रष्टा हो पाती है। इसी चेतना में प्रश्न और जिज्ञासा का उदय होता है, ज्ञान का अर्थ–लोक उभरता है, जो विचार के साथ ही संभव होता है।

पर विचार की – या विचार–चेतना की अन्तरोन्मुखता ऐसे अर्थों का आयाम ले कर आती है जो अपूर्व होते हैं। मनुष्य चेतना – या चेतना ही कहिये – इन्हीं अर्थों में व्यस्त रहती है। पर इन्हीं अर्थों के साथ वे अनर्थ भी रूप लेते हैं, जिनकी ओर हम ऊपर इंगित कर आये हैं– ये अनर्थ अर्थ के द्वित्व के रूप में मानो अनिवार्य जागते हैं– जैसे सत्य–बोध के साथ शांति जागती है; स्वातंत्र्य के दायित्व–बोध के साथ स्वार्थ का अनर्गल, आसुरी प्रसार खुल जाता है जो पशुभाव की सहज–परतंत्र प्रवृत्ति में कहीं था ही नहीं। सबसे बड़ी विडंबना–जिसकी हम बात कर आये हैं– यह है कि समाजों के बीच संबंधों में समाजनेताओं के द्वारा राज्य–संस्था के माध्यम से श्रेयस्–बोध की वंचना ही की जाती है, सद्भाव का अभाव ही इन संबंधों का लक्षण होता है।

आत्मचेतना अपनी आत्मसृष्टि के इस पूरे आयाम से विमुख होती भी देखी जा सकती है। आत्मचेतना की आत्मगवेषणा का निगूढतम आयाम उसे कह सकते हैं, जहाँ चेतना अपने समूची अर्थ–सृष्टि– से मुँह मोड़ कर मानो सचमुच अपने स्वरूप की ओर,, अपने कैवल्य की ओर मुड़ती है। अध्यात्म में। चेतना यहाँ अपनी सारी पराङ्मुख वृत्तियों से हट कर अपनी ओर मुड़ती

है – आत्मचेतना के अर्थलोक और उनकी अपार सृजन संभावना से भी मुँह मोड़ लेती है। छांदोग्य उपनिषद् में नारद की कहानी में यह मर्म बड़ी तीव्रता से उभरता है। नारद विद्याओं में– अर्थलोकों में परंगत हैं : वेद, इतिहास–पुराण, व्याकरण, गणित, तर्क, नृत्य–संगीत..., पर वे इनमें आत्मा का स्वरूप नहीं पाते, इतरत्व ही पाते हैं। सनत्कुमार उन्हें आत्मा का स्वरूप 'भूमा' बताते हैं। भूमा वह है जो सब जानने–सुनने से परे है– जहाँ कुछ जाना–सुना जाता है, वह अल्प है। वह भूमा स्वयंप्रतिष्ठ है, या अप्रतिष्ठ है। आत्मचेतना की यह द्विविध गति–अर्थलोकों में अपने अर्थ का अगाध–अनंत सृजन–अवगाहन, पर साथ ही सब कुछ, से हट कर अपनी ओर बढ़ जाना – यह विचित्र है। पर चेतना की गहनतम गति भूमा की ओर बढ़ने में ही जान पड़ती है– जहाँ वह अनिवर्चनीय है – स्वप्रतिष्ठ होते हुए भी अप्रतिष्ठ। विचित्र यह भी है कि चेतना की यह गहन गति कुछ व्यक्तियों में उभरती देखी जा सकती है– जैसे बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस, चैतन्य महाप्रभु...। पर इनमें यह गति जो परमरूप लेती है, उसमें उभरते परम भेदों को भी देखिये। बुद्ध ने सब कुछ को क्षणिक और दुःखमय देखा, जब कि तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि का साक्षात्कृत सत्य आनन्द था – *आनन्दो ब्रह्म इति व्याजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जाता जीवन्ति, आनन्दं प्रत्यभि संविशन्ति।* भक्त के लिये प्रेम इस आनंद के साथ संश्लिष्ट हो जाता है। अब इन परम दृष्टि भेदों को कैसे समझा जाये ? एक उत्तर यह हो सकता है कि ये भेद व्यक्तिगत उपाधिभेद हैं– व्यक्ति जिस भाव से प्रेरित हो, जिस मार्ग या माध्यम से परम की ओर जाता और उसे पाता है, उस भाव या माध्यम की उपरंजना उसके भूमा–बोध में रह जाती है। पर यह भी संभव है कि चित् की भूमा भी उतनी ही संभावनामयी है जितना चित् का कोई भी प्रकाश। चित् स्वरूप से सृजन–स्वभाव है और उसका सृजन बहुलता पालता है– यों उसकी भूमा का भी यही स्वभाव हो तो अचंभा क्या।

पर एक बात यहाँ अवधेय है– यह कि भूमा की उपलब्धि का माध्यम या आधार व्यक्ति ही होता है, समाज–संस्कृति नहीं। हां, समाज–संस्कृति की साध्य या पुरुषार्थ दृष्टि में भूमा की महिमा का विशेष स्थान हो सकता है– जैसा कि भारत की संस्कृति में रहा है। पर सच पूछिये तो परम की यह अभीप्सा सभी संस्कृतियों में पाई जाती है– मनुष्य की गहनतम अभीप्सा है। मनुष्य के अपने को अपूर्ण पाने में, उसके अदृष्ट–लोकोत्तर धर्मबोध में ही अंतर्निविष्ट है। हम यह भी पाते हैं कि तत्–संस्कृति के अपने संस्कार और दृष्टिभेद भी भूमा के अनुभव को उपरंजित करते हैं। पर यह अनुभव उतरता व्यक्तियों में ही है।

भूमा अनिवर्चनीय है– निर्विकल्प है। तो, यहाँ एक और बात देखिये जो बर्गसों से बिलकुल विपरीत दिशा में जाती है। स्पष्ट ही, निर्विकल्प बोध की अध्यात्म–चिंतकों में बड़ी महिमा है। भूमा के निर्विकल्प बोध को विकल्प से ऊर्ध्वगत चेतना का बोध कहा जा सकता है– यह बर्गसों के निर्विकल्प की तरह जगद्भाव–लीन नहीं है, जगद्भाव से उबार की तुंगतम उपलब्धि है। इसे 'निर्विकल्प' इसलिये कहा गया है क्योंकि यह विचार से ऊर्ध्व है– चेतना की प्रत्यङ्मुखता का पर्यंत है। ऐसे निर्विकल्प बोध में – अगर उसे बोध भी कहा जा सके – न इन्द्रियबोध हो सकता है, न विचार–बोध। पर यह 'निर्विकल्प' चेतना विकल्प से ऊपर उठ जा सकती है तो विकल्प–बोध में लौट भी आ सकती है, तभी निर्विकल्प बोध की बात या साधना संभव होती है। शल्य जी के तंत्र में प्रश्न उठता है कि क्या भूमा के बोध को चित् की स्वरूप–स्थिति कहा जा सकता है ? जैसा कि वेदांत में ब्रह्मानुभव के लिये कहा जाता है। पर सच पूछिये तो शल्य जी ऐसा कह नहीं सकते। चित् अपनी आत्मसृष्टि में अपना इतर हो जाता है– फिर जगद्भाव से उबर, आत्मचेतन चित् भी अपने इतर का इतर पा कर अपने अर्थ की गवेषणा करता आत्मसृजन करता है। भूमा इस चित् के अर्थ का एक चरमतर शिखर ही हो सकता है, चित् की स्वस्थिति नहीं, जो कि संभव ही नहीं है। पर, हां, शायद यह कहा जा सकता है कि चित् में भूमा की गवेषणा उसके इतरत्व के निराकरण का भी प्रयास है, पर यह इतरत्व से मुक्ति दिला नहीं सकता।

शल्य जी असत् से चित की आत्मसृष्टि मानते है जो एक सृजन की यात्रा है – असत् को ही रूप देती बढ़ती चली जाती है। चित् को 'है' नहीं कह सकते – हालांकि जो कुछ है उसी से है। चित् को ऐसा साध्य कह सकते हैं। भूमा को इस आत्म–उत्तरण का चरम कह सकते हैं। पर साध्यत्व को– सृजन के स्वतंत्र साध्यत्व को – 'है' नहीं कह सकते– हालांकि उसके बिना किसी होने का कोई अर्थ नहीं।

शल्य जी द्वारा यह चित् की आत्मगवेषणा की यात्रा में विकासवाद जैसा भाव हो सकता है। पर जीव–विज्ञान के विकासवाद से यह बिलकुल भिन्न है। विज्ञान चेतना की यात्रा की बात नहीं करता– चेतना को वह अपने विचार और आकलन से अलग ही रखना चाहता है। उसे माने भी तो आगंतुक या यादृच्छिक मानेगा, जड़ का ही एक आकस्मिक विवर्त, या 'जटिल' परिणाम। विज्ञान स्वतन्त्र विचार–चेतना में रूप लेता हैं, विचार के अपने को जाँचते–परखते, नई कल्पनाओं में रूप लेते स्वतन्त्र आत्ममनन के बिना

उसका होना ही अकल्पनीय है, पर विज्ञान विचार को मास्तिष्क में और मस्तिष्क को परमाणु–व्यापार में अपचित कर देना चाहता है। आत्मचेतना के अपने स्वतन्त्र व्यापार के लिये उसके विचार–तन्त्र में कोई स्थान नहीं।

शल्य जी के लिये चित् की आत्मसृष्टि नितांत स्वतन्त्र व्यापार है। यह नहीं भी हो सकता था। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे चेतना की आत्मसृष्टि में एक 'यात्रा' जैसा रूपक नहीं देखते हैं। उस यात्रा के पड़ाव, मोड़ भी देखते हैं। पर वह किसी कार्य–कारण की या पूर्वस्थिति के परिणाम या बढ़ती 'जटिलता का क्रम नहीं है – 'जटिलता' का कुछ भी अर्थ लिया जाये। जटिलता जड़ में विकास कैसे ले आती है – जड़ से प्राण, प्राण से चेतना, चेतना से आत्मचेतना, यह सोपान कैसे चढ़ जाती है, यह समझ में नहीं आता। विचार–चेतना के लिये ही 'जटिलता' को कोई अर्थ बन सकता है, पर वह भी अगर जटिलता का परिणाम है तो फिर उसे विचार ही कैसे कहा जा सकता है ?

पर एक विषमता इस यात्रा के स्वरूप में ही बैठी हुई है। चित् की सृजन–यात्रा का अथ ही आत्म–व्यवहित आत्मेतरत्व के साथ होता है, और यह इतरत्व मिट नहीं सकता– अपने इतर का इतर ही होता चला जा सकता है। अपने इतर के माध्यम से अपने अर्थ को पाने की खोज अनर्थ की विडंबना से भी चित् को उबार नहीं सकती। जिन लेखों के आधार पर मैंने यहाँ अपनी चर्चा का कुछ विस्तार किया है, उनके मर्म में समाई अगाध वेदना का भी यहीं बीज है।

अंत में मैं कुछ प्रश्न उठाना चाहता हूँ। स्पष्ट है कि शल्य जी की दृष्टि अनन्य है। उपनिषदों का समाहरण करती हुई भी किसी परंपरागत वेदांत से सर्वथा भिन्न। इसे अपनी तरह से एक गहरे आत्मबोध और जगत्–बोध में मूलित कहा जा सकता है। तभी यह दर्शन की स्वतन्त्र दृष्टि है। पर देखा जा सकता है कि उनके जिन लेखों के आधार पर मैंने ऊपर चर्चा का विस्तार किया है, उनमें वेदना का गहरा सूत्र क्यों है।

एक प्रश्न यहाँ चित् के विषय में ही उठता है। स्पष्ट ही शल्य जी के लिये चित् का आत्मप्राकट्य या आत्मसर्जन ही उसका स्वरूप है – इसके परे वह न कुछ है। यह ठीक है कि चित् अपनी सृष्टि में ही अपचित नहीं हो जाता, वह सृजन के साध्य, अनंततः संभाव्य अर्थ के रूप में अपने सृष्ट से परे रहता है, और उसकी यह साध्यता उसके सृजन में भी अंतर्निविष्ट रहती है, उसे संभव करती है, फिर भी क्या शल्य जी का चित् स्वरूपेण कालगत नहीं है? कह सकते हैं कि वह काल को रूप देता है, पर काल के बाहर वह है ही क्या ? अपने काल में रूप लेने से परे उसका कोई स्वरूप

ही नहीं। फिर यह भी देखिये। पिछला सृजन, अगला जिसका निराकरण करता है, जिसे असार्थक पाता है, वह फिर भी यों का यों बना रहता है। चित् अपनी नई उपलब्धि प्रकाश में उसे बदलता नहीं! इसे रहस्य कह सकते हैं – और कह भी क्या सकते हैं, पर इससे बात समझ में नहीं आ जाती। और यह भी देखिये कि जिसे चित् के अर्थ में परम उपलब्धि कह सकते हैं, कुछ विरल व्यक्तियों के अध्यात्म में ही प्रकाश पाती है। अर्थलोकों में अर्थ की प्रातिभ दृष्टि भी कुछ व्यक्तियों में ही जागती है। कह सकते हैं कि ऐसे व्यक्ति एक बृहत्तर संस्कृति के अंग या प्रतीक होते हैं, पर सच पूछिये तो शेष मनुष्यता किसी भी अर्थ के किसी उच्चतर धरातल पर आ गई हो ऐसा तो नहीं दीखता। एक प्रश्न यहाँ और उठाना चाहता हूँ। शल्य जी उपनिषद् (शायद ईशोपनिषद्) के उद्धरण के साथ सत् के शाश्वतीभ्यः समाभ्यः अपने याथातथ्य में स्थित होने की बात करते हैं। पर उनके लिये सत् चित् से अभिन्न, चित् का प्रकाश, उसका आत्मसृजन है। पर यह आत्मसृजन अगर एक काल–यात्रा में बनता व्यापार है तो सत् को शाश्वतीभ्यः समाभ्यः स्थित या निर्धारित कहने का क्या तात्पर्य ? क्या सत् सापेक्ष नहीं हो जाता ? और वह भी बड़े विचित्र भाव से – काल की यात्रा का पिछला चरण जिस सत् को स्थापित करता उसमें निविष्ट रहता है – इन्द्रियार्थों में, उनकी रस्यता में – वह अगले चरण के लिये मिथ्या हो जाती है। आत्मचेतना के अर्थलोकों में प्रकाशित सत् भी अध्यात्म के गहनतम अनुभवों में असत् होता ही जान पड़ता है। फिर चित् की यात्रा का कोई अवसान नहीं – आगे की यात्रा पिछले सत् के कितनी परतों को असत् करती बढ़ेगी, कौन कह सकता है ! पर इस यात्रा में चित् अपने को पा तो नहीं सकता – और इस यात्रा के बाहर भी उसका कोई स्वरूप नहीं !

ए 37 / 38 विश्वामित्र मार्ग
श्यामनगर, अजमेर रोड
जयपुर - 302006

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *ये दो लेख हैं : चित् की आत्मगवेषणा 1 और 2। ये दोनों एक के बाद एक शल्य जी के लेखों के हाल के संग्रह, चित् की आत्मगवेषणा नाम की पुस्तक में छपे हैं : प्रकाशक : दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर के लिये राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009।*

मूलगामी भारतीय नैतिक दृष्टि*

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रोफेसर ए.जे. एयर ने नॉवेल स्मिथ की प्रसिद्ध पुस्तक 'एथिक्स' की प्रस्तावना लिखते हुए नैतिक–उपदेशक और नीति–दार्शनिक में स्पष्ट अन्तर को प्रस्तावित किया था। इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए आचार–संहिता मूलक नैतिक चिन्तन और दार्शनिक नैतिक चिन्तन के स्वरूप में भी महत्त्वपूर्ण अन्तर को रेखांकित किया जा सकता है। उपदेशात्मक नैतिक चिन्तन वह है जो हमारे समक्ष विधि–निषेध परक एक विस्तृत और व्यापक आचार–संहिता को प्रस्तावित करता है और साथ ही उसके पालन के लिए हमें प्रोत्साहित भी करता है। ऐसे नैतिक विचार किसी धर्मगुरू अथवा महापुरुष द्वारा उपदिष्ट देश–काल और संस्कृति सापेक्ष होते हैं। यह बात अलग है कि इस प्रकार का संस्कृति–सापेक्ष नैतिक विचार भी कुछ अंशों में सार्वभौमिकता को लिये रह सकता है। इसके विपरीत नैतिक–दार्शनिक चिन्तन हमारे समक्ष न तो किसी प्रकार की आचार–संहिता का प्रस्ताव करता है और न ही उस पर अमल करने के लिए हमें प्रोत्साहित ही करता है। यहाँ तक कि नैतिक–दार्शनिक चिन्तन का कार्य हमारे कर्मों के औचित्यानौचित्य पर निर्णय देना भी नहीं है। वस्तुतः नैतिक–दार्शनिक चिन्तन अपने स्वरूप में विमर्शात्मक और विश्लेषणात्मक प्रकृति का होता है जिसका मुख्य कार्य नैतिक निर्णयों के स्वरूप का विवेचन करना है। अधिक मूलगामी रूप से कहें तो यह नैतिक–निर्णयों के स्वरूप का विवेचन करते हुए प्रकटतः उन विशिष्ट मानकों की खोज–बीन करता है तथा उन आदर्शों और मूल्यों की व्याख्या भी करता है जो उन विशिष्ट मानकों को सम्भव बनाते हैं।

I

अब यदि उपर्युक्त दृष्टि से नैतिक चिन्तन की भारतीय परम्परा पर विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि भारत में आचार–संहिता मूलक

**28 फरवरी 2009 को विनोबाभावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग, झारखण्ड में दिया गया चांसलर व्याख्यान।*

नैतिक चिन्तन का एक लम्बा और समृद्ध इतिहास रहा है। गृहसूत्रों, धर्मसूत्रों, और धर्मशास्त्रीय परम्परा के विभिन्न स्मृतियों एवं नीतिग्रन्थों में विधि–निषेध मूलक आचार–संहिता के व्यापक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। भारतीय परम्परा में इसे 'धर्म' कहा गया है और यह धर्म पद इस विशेष सन्दर्भ में 'न्याय' संज्ञा से भी अभिहित हुआ है। यहाँ न्याय से तात्पर्य उस आचार–संहिता से लिया गया है जिसका प्रतिपादन विभिन्न समयों में मनु आदि स्मृतिकारों ने वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था और पुरुषार्थ व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए किया है (धर्मो नाम न्यायः। किम् नाम न्यायः ? मन्वादिक प्रतिपादित आचारो नाम न्यायः)। परन्तु, दूसरी ओर, भारतीय परम्परा में नैतिक–दार्शनिक चिन्तन उस रूप से व्यवस्थित रूप में नहीं हुआ है जितना कि व्यवस्थित रूप में इस प्रकार का चिन्तन ग्रीक दार्शनिकों और आधुनिक पाश्चात्य नैतिक चिन्तकों ने किया है। ऐसा अक्सर ही कहा जाता है कि भारत में यद्यपि तत्त्वचिन्तन बहुत उत्कृष्ट कोटि का और व्यवस्थित रूप में हुआ है लेकिन स्वायत्त रूप में नैतिक दार्शनिक चिन्तन उस प्रकार से नहीं हुआ है। यदि इस तथ्य को प्रथम दृष्टया स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि यद्यपि भारतीय परम्परा में आचार–संहिता मूलक नैतिक चिन्तन का प्राधान्य रहा है लेकिन उसके पीछे भी एक दार्शनिक दृष्टि रही है। किसी भी आचार–विधान का निर्धारण गतानुगतिक रूप से या समुदाचार के आधार पर ही नहीं किया गया है। पुनः रामायण, महाभारत और गीता इत्यादि महाकाव्यों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के स्वरूप को लेकन गहन चिन्तन–मनन हुआ है और उनमें अनेकों ऐसे संवेदनशील अर्थगर्भ सन्दर्भ प्राप्त होते हैं जिनके माध्यम से भारतीय परम्परा का नैतिक दार्शनिक चिन्तन अन्दर से झांकता हुआ प्रतीत होता है। द्रष्टव्य है कि पाश्चात्य परम्परा का नीति–दार्शनिक चिन्तन भी उस परम्परा के कतिपय महान् ग्रन्थों जैसे दी एडिपस, डिवायन कॉमेडी, दी किंग लियर और पैराडायज लॉस्ट इत्यादि के माध्यम से उत्कृष्ट अभिव्यक्ति पाता रहा है। इस प्रकार के ग्रन्थों का ऐतिहासिक महत्त्व इस बात में निहित होता है कि इनके माध्यम से एक बहुत बड़े जीवनानुभव का अवलोकन एक बाह्य–दर्शक की भूमिका में न किया जा कर तादात्म्य अथवा अंतरंग चित्तभूमि पर सम्भव होता है और इस कारण सांस्कृतिक–सामाजिक जीवन के अन्तर्विराधों एवं जटिलताओं का आदर्श समाधान उस संस्कृति की विश्वदृष्टि के समग्र परिप्रेक्ष्य में सम्भव होता है।

भारतीय नीति दार्शनिक चिन्तन पर विचार करते हुए प्रथमतया एक महत्त्वपूर्ण बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि यहाँ समस्त सृष्टि को ही एक नैतिक–व्यवस्था के रूप में देखा गया है। ऋत और यज्ञ की वैदिक अवधारणा के मूल में यही दृष्टि रही है। इसीलिए 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' अर्थात् ऋत को धारण करने वाली, उसके साथ प्रचोदनात्मक सम्बन्ध में रहने वाली प्रज्ञा को मानव–बुद्धि का आदर्श कहा गया है (धीयोयोनः प्रचोदयात्)। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में नैतिक कर्म का विवेचन एक विश्वदृष्टि विषयक तत्त्वचिन्तन के अंगभूत होकर प्रस्तुत हुआ है। यदि भारतीय और पाश्चात्य नैतिक चिन्तन की प्रकृति पर तुलनात्मक रूप से विचार करें तो कहा जा सकता है कि भारतीय नैतिक चिन्तन जहाँ धर्म की व्यापकतर संकल्पना के परिप्रेक्ष्य में विकसित हुआ है वहीं पश्चिम में नैतिकता का विचार अधिकांशतः काम और अर्थ पुरूषार्थ की अनुमत सीमा में हुआ है। पुनः भारतीय नैतिक दृष्टि जहाँ चेतना–केन्द्रित रही है वहीं पाश्चात्य नैतिक दृष्टि को मानव–केन्द्रित कहा जा सकता है। मानव–केन्द्रित नैतिक दृष्टि में मनुष्य एक ओर जहाँ सभी वस्तुओं का मापदण्ड (होमोमेनसुरा) बनता है तो दूसरी ओर जीवन की समस्त अर्थवत्ता का निर्धारण देह–विशिष्ट चेतना की वृत्तियों की सीमा में ही किया जाता है। इस दृष्टि का आदर्श 'मुक्त–चेतना' कभी हो ही नहीं सकती, क्योंकि चेतना सदैव सापेक्ष चेतना होती है। दृष्टव्य है कि इस दृष्टि में चेतना सदैव इन्द्रिय सापेक्ष, बुद्धि सापेक्ष, कर्म सापेक्ष और विषय सापेक्ष ही होती है। अतएव चेतना की 'अन्य' की अपेक्षा से मुक्त होने की कोई सम्भावना ही नहीं बनती है। यह दृष्टि पश्चिम की धार्मिक दृष्टि में भी इस कदर निगुढ़ है कि यहूदी, ईसाई और इस्लाम परम्परा में 'जजमेंट' के दिन भी जीवों को अपना पूर्व–देह धारण कर ही ईश्वर के समक्ष उपस्थित होना पड़ता है। दूसरी ओर हम देखें तो चेतना–केन्द्रित भारतीय दृष्टिकोण में यह सम्पूर्ण जगत् चेतना का ही जगद्भाव में प्रवर्तन है और उसी के प्रकाश में जीवन की समस्त अर्थवत्ता और अस्तित्व के सारे आयाम एक आधारभूत सामंजस्य एवं वैश्वनियामकता में प्रकट होते हैं। वनस्पति जगत् और पशु जगत् में चेतना पूरे तौर से प्रकृतिस्थ होती है लेकिन मानवीय स्तर पर चेतना 'आत्मचेतन' होकर जीवन और जगत् के अपार अर्थराशि का सृजन और अवगाहन करते हुए अपने को इन सब से परे 'आत्मस्थ' भी पाती है। आत्मचेतना के आत्मस्थ होने में ही उसकी मुक्ति की सम्भावना निहित है।

भारतीय परम्परा में चेतना के इस सम्भाव्य और प्रयत्न से लब्ध मुक्ति की न केवल बहुविध व्याख्या की गई है बल्कि भारतीय जीवन–दृष्टि के चूड़ान्त आदर्श के रूप में इसे सर्वातिशायी महत्त्व भी प्रदान किया गया है।

इस तरह भारतीय परम्परा में 'मुक्ति' को जीवनादर्श के रूप में स्वीकार किये जाने के कारण कतिपय पाश्चात्य विद्वान और उनसे प्रभावित लोग यह मानते रहे हैं कि भारतीय दार्शनिकों ने परमार्थ–विचार को अधिक महत्त्व प्रदान किया और गम्भीर नीति–मीमांसा से या तो बचते रहे या फिर उसे लोक–संग्राहक स्मृतियों के लिए छोड़ दिया। यह बात ऊपरी तौर पर सही भी प्रतीत होती है क्योंकि कोई यह कह भी सकता है कि भारतीय दर्शनों का परमार्थ–विचार या तो नीति–निरपेक्ष है या फिर नैतिकता का अतिक्रामी। उदाहरण के लिए छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति तो पाप–पुण्य से ऊपर उठ जाता है। ये सभी उसका स्पर्श तक नहीं करते। संन्यासी और आत्मज्ञानी के लिए भी इसी प्रकार की बातें कही जा जाती हैं कि उन पर धर्म–अधर्म की कसौटियाँ लागू नहीं होतीं। स्वयं भगवद् गीता में भी यही दृष्टि देखी जा सकती है जबकि कर्म का विवेचन उसका प्रधान विषय रहा है। श्रीकृष्ण अर्जुन को स्पष्ट निर्देश देते हैं कि यदि तुम सभी धर्मों को छोड़कर मेरी शरण गहो तो एकबारगी सभी पापों से मुक्त हो जावोगे। (सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज। अहंत्वाम सर्वपापेभ्योः मोक्षिस्यामि माशुचः।।) इसी तरह यदि देखा जाय तो निष्काम कर्मयोग की दृष्टि भी अन्ततः नैतिकतातिक्रामी दृष्टि ही प्रतीत होती है। एक ओर निष्काम भाव से किये गये कर्म पर उचित–अनुचित के साधारण मानदण्ड लागू नहीं होते तो दूसरी ओर निष्कामता की परिभाषा ही 'निस्त्रैगुण्य' के रूप में की जाती है। हमारे शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार का सारा कर्मक्षेत्र त्रिगुणात्मिका प्रकृति की क्रियाशीलता का क्षेत्र है और गीता इन सब का अतिक्रमण कर निस्त्रैगुण्य भाव में मनुष्य की परात्पर विश्रान्ति देखती है। सांख्य दर्शन में भी इसी दृष्टि का समर्थन प्राप्त होता है, क्योंकि उसके अनुसार प्रकृति का सम्पूर्ण क्रिया–व्यापार पुरुष के कैवल्यार्थ है और यह कैवल्य पुरुष की निस्त्रैगुण्य भाव में प्रतिष्ठा ही है।

अब यदि उपर्युक्त आलोचनात्मक पूर्वपक्ष के परिप्रेक्ष्य में भारतीय नैतिक दृष्टि पर मूलगामी रूप से विचार किया जाये तो ये सभी आलोचनायें समझ की भ्रान्ति ही प्रतीत होती हैं। इस तरह से देखने पर वास्तव में भारतीय

नैतिक चिन्तन का जो भूषण है वही दूषण के रूप में दिखाई पड़ने लगता है। यह बात सही है कि नीति और अनीति का सम्बन्ध व्यवहार–जगत् से है लेकिन परमार्थ की नियामकता में व्यवहार जगत् का नियमन उसको एक उच्चस्तरीय प्रतिष्ठा प्रदान करता है। यदि नीति और अनीति के निर्धारण को एक तत्त्वमीमांसीय आधार प्रदान न किया जाये तो उन सबका केवल व्यवहारपरक निर्धारण अन्ततः सुविधापेक्षी समुदाचार बन कर ही रह जायेगा। इस सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय दर्शनों का परमार्थ–विचार मनुष्य के स्वरूप–विचार से आधारभूत रूप में सम्बन्धित है। सामी परम्परा के धर्मों की तरह भारतीय परमार्थ चिन्तन न तो किसी प्रकार का रहस्यवाद है और न ही किसी विश्वातीत ईश्वर जैसी सत्ता को केन्द्र में रख कर किया गया है। यह आद्यन्त रूप से आत्माकेन्द्रित है। भारतीय परम्परा में 'आत्मानंविद्धिः' को ही निकष बनाकर सभी प्रकार के प्रिय–अप्रिय, श्रेय–प्रेय का निर्धारण किया गया है (आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति)। अतएव भारतीय परम्परा का नैतिक चिन्तन यदि मनुष्य के स्वरूप का पर्यवसायी है तो इसमें दोष क्या है ? हाँ, यह बात अलग है कि मनुष्य केवल हाड़–मांस का पुतला ही नहीं जो अकस्मात् पहली बार जन्म लेता है और अन्तिम बार मरता है। मनुष्य आत्मौपम्य है और भारतीय नैतिक दृष्टि में यह आत्मौनपम्यता 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' तक विस्तार पाती है।

द्रष्टव्य है कि भारतीय नैतिक चिन्तन चूँकि मनुष्य के स्वरूप का पर्यवसायी है, इसलिए यहाँ 'धर्म' अर्थात् नैतिकता को मनुष्य के अवच्छेक लक्षण के रूप में स्वीकार किया गया है। अहार, निद्रा, भय, मैथुन इत्यादि प्रवृत्तियाँ तो मनुष्य मात्र में पाये जाने वाले पशु–सुलभ लक्षण ही हैं लेकिन 'धर्म' ही ऐसा लक्षण है जो मनुष्य का व्यावर्त्तक लक्षण है। यहाँ धर्म से तात्पर्य सदसद् विवेक सम्पन्न होना है। इसीलिए मनुष्य उचित–अनुचित के विवेक से परिभाषित होता है। भारतीय परम्परा में इस धर्म शब्द को अनेक सन्दर्भों में विभिन्न तरीके से व्याख्यातिय किया गया है लेकिन उन सभी सन्दर्भों में धर्म शब्द 'सदसद् विवेक' के अर्थ से कभी व्यभिचरित नहीं होता। अपनी सम्पूर्ण अर्थवत्ता और निष्पत्तियों के साथ धर्म शब्द वास्तव में भारतीय परम्परा के औचित्य–विधान का द्योतक है जो किसी विशेष आस्था–प्रणाली का अंगभूत नहीं हो कर आद्यन्त रूप से विवेकमूलक है। मनुष्य की चेतना जब जैव स्थिति और तज्जन्य बुभुक्षाओं से उपर से ऊपर उठती है तभी यह

धर्म पदवाची 'विवेक' एक व्यापक औचित्य–विधान का रूप लेता है। जैव स्थिति से ऊपर उठे बिना मानव चेतना अपने होने के अर्थ और गंतव्य की जिज्ञासा के साथ औचित्यानौचित्य के अन्वेषण में प्रवृत्त ही नहीं होती। और जब प्रवृत्त होती तो मनुष्य की जैव स्तर की पशु–सुलभ वृत्तियाँ भी उस विवेक से अनुप्राणित होकर रूपान्तरित हो जाती हैं। उदाहरण के लिए भारतीय पुरुषार्थ व्यवस्था में काम और अर्थ भी वस्तुतः धर्म से अनुशासित होकर ही पुरुषोचित बनते है अन्यथा काम और अर्थपरक लालसायें तो पशु–सुलभ वृत्तियाँ ही हैं। गीता में श्रीकृष्ण का यह कथन कि 'धर्माविरुद्धो कामोह्म' इसी दृष्टि को प्रमाणित करता है।

II

इस प्रसंग में यहाँ उन दो प्रकार की तत्त्वमीमांसीय दृष्टियों को रेखांकित किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है जो व्यापक तौर पर भारतीय नैतिक चिन्तन को आधार प्रदान करती हैं। यद्यपि ये दोनों दृष्टियाँ मनुष्य के स्वरूप की पर्यवसायी दृष्टियाँ ही हैं। लेकिन मनुष्य के स्वरूप के सम्बन्ध में दोनों के विचार परस्पर एक दूसरे के विरोधी रहे हैं। इसलिए दोनों तत्त्वदृष्टियों के द्वारा दो भिन्न प्रकार की नैतिक दृष्टियों का प्रस्ताव हुआ है। इसमें पहली दृष्टि का प्रतिनिधित्व चार्वाक करता है तो दूसरी दृष्टि का प्रतिनिधित्व हमें ईशावास्योपनिपद् में मिलता है। चार्वाक की नैतिक दृष्टि जिस तत्त्व दृष्टि को आधार बनाकर प्रस्तावित हुई है वह सार रूप में निम्नलिखित श्लोक में पर्याप्त विद्ग्धता के साथ व्यंजित हुई है–

यावज्जीवेत् सुखं जीवत् ऋणं कृत्वा घृतं पीवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

द्रष्टव्य है कि इस श्लोक की दूसरी पंक्ति एक तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा है जिसके अनुसार देहविशिष्ट चैतन्य ही आत्मा है। देहातिरिक्त कोई चैतन्य तत्त्व नहीं जिसे शाश्वत आत्मा कहा जा सके और देह जिसके लिए मात्र भोग योनि हो। पुनः इस श्लोक की पहली पंक्ति एक नैतिक अभिकथन है जिसके अनुसार केवल और केवल दैहिक सुख ही मानव जीवन के लिए एकमात्र श्रेय है। इस तरह इस श्लोक में एक विशेष प्रकार की नैतिक दृष्टि को प्रस्तावित किया गया है जिसके आधार में मनुष्य के स्वरूप विषयक संकल्पना के आधार में वह भौतिकवादी तत्त्वदृष्टि है जिसके अनुसार सब कुछ अन्ततः भौतिक तत्त्व में ही समाहार्य है।

एक दूसरी तत्त्व दृष्टि जो भारतीय नैतिक चिन्तन को अपेक्षाकृत व्यापक आधार प्रदान करती है वह है 'ईशावास्यमिदंसर्वम्' की दृष्टि। यह दृष्टि अत्यन्त सारगर्भित और बीज रूप से ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मंत्र में ही इस प्रकार व्यक्त हुई है –

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।'
तेन त्यक्तेन् भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।

अर्थात्– इस संसरणशील संसार में जो कुछ भी है, वह सब उस परम चैतन्य ईश्वर से अन्तर्व्याप्त है। इसलिए इस जगत् की समस्त भोग्य वस्तुओं को उस परमेश्वर का प्रसाद मानकर ही ग्रहण करना चाहिए। यह धन, ये भोग्य वस्तुयें, स्वयं अपने में प्रसादक नहीं हैं, इसलिए उनमें आसक्ति उचित नहीं। तात्पर्य यह है कि परमात्मा द्वारा त्याग की गई सम्पदा को हमें दूसरों के लिए त्याग करते हुये भोगना चाहिए। यह परिवर्तनशील और अनित्य जगत् अपने आप में साध्य नहीं, यह साधन अर्थात् भोग्य है। परन्तु भोग्य रूप में भी यह लिप्त होने लायक वस्तु नहीं बल्कि इसका भोग त्यागपूर्वक होना चाहिए। इस तरह देखा जाय तो उपर्युक्त मंत्र का प्रथम भाग अस्तित्व मात्र के अधिष्ठान तत्त्व के स्वरूप विषयक है और मनुष्य भी स्वरूपतः उसी का एक अंश मात्र है अथवा दूसरे शब्दों में वह अधिष्ठान तत्त्व मनुष्य के स्वरूप का ही महद् रूप है। पुनः इस मंत्र का दूसरा भाग सीधे–सीधे मनुष्य के कर्त्तव्य के स्वरूप विषयक है और कर्त्तव्य का वह स्वरूप उस परमतत्त्व के स्वरूप से सीधे–सीधे निगमित होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों तत्त्वमीमांसीय दृष्टियाँ दो सर्वथा भिन्न प्रकार के नैतिक चिन्तन को दार्शनिक आधार प्रदान करती हैं। इसमें चार्वाक की देहात्मवादी, भौतिकवादी तत्त्व दृष्टि को स्वीकार किया जाय तो उस पर आधारित नैतिक दृष्टि घोर सुखवाद के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकती। वह भी ऐसा सुखवाद जिसमें ऐन्द्रिक सुख के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के उच्चतर सुखावबोध के लिए कोई स्थान ही न हो। ऐसे घोर सुखवाद की पराकाष्ठा चार्वाक परम्परा के ही नीलपट सम्प्रदाय के एक वक्तव्य में देखा जा सकता है। 'नीलपट' अपनी आकांक्षाओं को व्यक्त करते हुए कहता है कि नीलपट तभी सुखी रह सकता है जब सभी पर्वत मांसल हो जायें, सभी नदियाँ सुरावहिनी हो जायें और संसार की समस्त स्त्रियाँ चिरयौवना हो उसके भोग–विलास के लिए प्रस्तुत हों। (न नद्यो मदवाहिन्यो

न च मांसमया नगाः। न च नारीमयं विश्वं कथं नीलपटः सुखी।।)। कुमारिल भट्ट ने चार्वाकीय सुखवाद, जिसमें सुखों के बीच परिमाणात्मक अन्तर तो सम्भव है लेकिन गुणात्मक अन्तर के लिए कोई स्थान ही नहीं; पर कटाक्ष करते हुए उचित ही कहा है कि –

क्रोशतो हृदयेनापि गुरूदाराभिगामिनः।
भूयान् धर्म प्रसज्येत भूयसि हि उपकारिता।।

द्रष्टव्य है कि पश्चिमी नैतिक चिन्तन भी बहुलांश में सुखवादी दृष्टि के ही चारों ओर घूमता है। यद्यपि स्वार्थपूर्ण मनोवैज्ञानिक सुखवाद को परिष्कृत करने के प्रयास में पश्चिमी नैतिक चिन्तन का विकास उपयोगितावाद, सामाजिक हितवाद और सूझपूर्ण स्वार्थवाद की ओर हुआ है तथापि अपने स्वार्थ से ऊपर परार्थ की ओर बढ़ने के लिए उनके पास जो युक्ति है वह यही कि मेरा अधितम सुख अन्यों के अधिकतम सुख के साथ ही सुरक्षित और निरापद रह सकता है। इस दृष्टि से तथाकथित परार्थ भी वास्तव में स्वार्थ का ही संवर्धन है। सुखवादी नैतिक चिन्तकों का इस ओर ध्यान ही नहीं गया कि अपने सुख की तृष्णा को गौण बनाकर अथवा त्याग कर दूसरों के सुख के लिए प्रयत्न करने में 'सुख' का अर्थ ही मौलिक रूप से बदल जाता है। इसमें पहले का सम्बन्ध संवेदन से और दूसरे का परकल्याण से होता है। पुनः पहले का सम्बन्ध अहंकारमूलक स्व से तो दूसरे का अहंकारातिक्रमण से होता है। पहले में सुख एक जीव–सुलभ एषणा है तो दूसरे में वह अतिजैविक और अलौकिक होता है। इस तरह अपने सुख की एषणा का तात्पर्य अपने वैयक्तिक सन्दर्भ में जगत् को देखना है जबकि दूसरों के सुख के लिये प्रयत्न करने में जगत् की व्यापकता में अपने को देखना है। इस तरह अपने को देखने में व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता को मिटाकर सभी के साथ एक आध्यात्मिक एकता की अनुभूति करता है। पश्चिमी और चार्वाकीय नैतिक चिन्तन में उपर्युक्त अन्तर के लिए कोई अवकाश ही नहीं क्योंकि उनकी मनुष्य के स्वरूप की अवधारणा ही वैसी है। ईशावास्योपनिषद् की तत्त्व दृष्टि जिस प्रकार की नैतिकता को प्रस्तावित करती है उसमें ही उपर्युक्त सभी की सम्यक् व्याख्या हो सकती है। यह बात सही है कि सुख–कामना जीवमात्र की जैव आकांक्षा है और इसलिए यह स्वाभाविक प्रवृत्ति भी है परन्तु नैतिकता का मूल तो स्वाभाविक प्रवृत्तियों के निरोध में है (प्रवृत्तिरेषा भूतानां निग्रहस्तु महाफला)। अतएव सुख जो सहज प्रवृत्ति के रूप में व्यक्ति

मात्र में साध्य रहता है वह उचित–अनुचित, कर्त्तव्याकर्त्तव्य की कसौटी ही नहीं बन सकता। भारतीय दर्शनों में भी संसार को दुःखरूप माना गया है और उस दुःख निवृत्ति में ही सुख प्राप्ति की कामना निहित है, लेकिन यह सुख देह और इन्द्रियों का सुख नहीं बल्कि आप्तकाम, आत्माराम, आत्मस्वरूपा–नुध्यायी सुख है जो भौतिक कोटि का नहीं बल्कि नितान्त आध्यात्मिक है। भारतीय परम्परा में जिस धर्म विशेष अर्थात् सदसद् विवेक से मनुष्य को परिभाषित किया गया है उसका निहितार्थ जैवस्तर की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के पशुसुलभ अनुधावन के निरोध में ही निहित है। स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों की अनुमत सीमा में आत्मबलिदान परक मानवीय प्रवृत्तियों का जिसे कार्ल पॉपर ने 'सुपर ऐरोगेन्ट ड्यूटी' कहा है, उसकी सम्यक् व्याख्या नहीं हो सकती। आत्म प्रेम और आत्मरक्षा से ऊपर उठकर मनुष्य कई ऐसे कर्मों को सम्पादित करता है जो अपने स्व के अतिक्रमण या फिर दूसरों में भी अपना ही स्व देखने से सम्भव हो सकता है। भारतीय नैतिक दृष्टि की यह विशिष्टता अधोलिखित श्लोक में पर्याप्त विदग्धता के साथ व्यंजित होते हुए देखी जा सकती है–

उपकारिषु यः साधु साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधु स साधु सद्भिरूच्यते।।

अतएव सुखवादी नैतिकता की विपन्नता वास्तव में उसके द्वारा स्वीकृत मनुष्य के स्वरूप की ही विपन्नता है। इसीलिए चार्वाकीय सुखवाद को भारतीय परम्परा में कभी सांस्कृतिक स्वीकरण प्राप्त नहीं हुआ। यह सदैव एक पूर्वपक्ष अथवा भ्रष्ट नैतिक दृष्टि के रूप में ही आलोचित होता रहा है। वास्तव में देखा जाय तो भारतीय नैतिक दृष्टि को व्यापकतर दार्शनिक आधार ईशावास्योपनिषद् की तत्त्व दृष्टि में ही प्राप्त होता है और उसी को यहाँ व्यापक सांस्कृतिक स्वीकरण भी प्राप्त हुआ है। यद्यपि तत्त्वदृष्टि विषयक भारतीय दर्शनों के आपसी मतभेद बहुत गहरे हैं लेकिन धर्म–नीति विषयक मतभेद उतने नहीं हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि ईशावास्योपनिषद् की तत्त्व दृष्टि भारतीय नैतिक चिन्तन को एक सामान्यीकृत समग्रतावादी आधार प्रदान करती है और इस दृष्टि से इसका अवान्तर तत्त्वदृष्टियों से मतभेद नैतिक चिन्तन के स्वरूप को प्रभावित नहीं करता है। भारतीय धर्म–नीति के मूलभूत तत्त्व जो यम, नियम और धर्म के बहुविध लक्षणों में प्राप्त होते हैं, उन सभी की संगति ईशावास्योपनिषद् की तत्त्वदृष्टि

से देखी जा सकती है। भारतीय जीवन दृष्टि में स्वीकृत आश्रम व्यवस्था, ऋण व्यवस्था और पंचमहायज्ञों के माध्यम से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का जैसा विधान किया गया है, उसमें धर्म–नीति के उपर्युक्त मूलभूत तत्त्वों का सफलतापूर्वक विनियोग हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय नैतिक दृष्टि एक तत्त्वदृष्टि में मूलित होकर अपने को चरितार्थ और प्रमाणित करती है। यही दृष्टि हमें गीता में भी मिलती है जो एक विकट नैतिक द्वन्द्व के समाधान में प्रस्तुत हुई है। उसका उद्‌देश्य कर्त्तव्याकर्त्तव्य के द्वन्द्व में निमग्न अर्जुन को उस दुविधा से निकालने के लिए मार्ग निर्देश में निहित है। द्रष्टव्य है कि वह मार्ग निर्देश प्रदत्त परिस्थिति में व्यावहारिक प्रकार का और आर्थिक, राजनैतिक लाभ–हानि पर भी आधारित हो सकता था। परन्तु गीता विचार के उस दिशा को नहीं अपनाती है जो काम और अर्थ पुरूषार्थ मूलक मानदण्डों से निर्धारित होती हो। गीता मार्ग–निर्देश का प्रारम्भ ही एक तत्त्वमीमांसीय प्रतिपत्ति से करती है कि "हे अर्जुन तू कर्त्तव्य निर्णय के लिए जिस प्रतिज्ञा को आधार बना रहे हो, अर्थात् कौन मरेंगे और कितने मरेंगे, वह कर्त्तव्य निर्णय के लिए आधार बनने योग्य ही नहीं है। प्रज्ञावान व्यक्ति के लिए जीवन–मृत्यु के विचार का वास्तव में कोई महत्त्व ही नहीं होता।" (अशोच्यानन्व शोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासुनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः)।

III

अब यहाँ विचारणीय है कि तत्त्वदृष्टि यद्यपि नैतिकता के लिए एक सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत करती है लेकिन व्यक्ति के समक्ष विशिष्ट नैतिक परिस्थिति उत्पन्न होने पर उसके निर्णय को प्रभावित करने वाले अन्यान्य घटक भी होते हैं। अक्सर हम चेतना के साधारण धरातल पर ही उचित–अनुचित के द्वन्द्व का सामना करते हैं। यदि हमारी तत्त्व दृष्टि हमारी जैव बुभुक्षाओं के अनुरूप होती है (जैसा कि चार्वाकीय तत्त्वदृष्टि) तो उसके अनुरूप नैतिक–निर्णय के अनुसरण में कठिनाई नहीं होती लेकिन ईशावास्योपनिषद् अथवा गीता की तत्त्व दृष्टि को सामने रखकर जब हम कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय लेना चाहते हैं तो हमें साधारण चेतना के जैव धरातल से ऊपर उठकर चेतना की उच्च अवस्था में अवस्थित होना पड़ता है। वस्तुतः चेतना के दो भिन्न धरातल पर एक ही प्रकार के कर्म क्यों न किये जायें और दोनों ऊपर से देखने पर एक ही प्रकार के क्यों न लगें, दोनों कर्मों की कर्मवत्ता और अर्थवत्ता में अन्तर आ जाता है। इस बात को एक उदाहरण द्वारा अच्छे तरीके

से समझा जा सकता है। गौतम बुद्ध रात के अन्धेरे में अपनी पत्नी और बच्चे को छोड़कर सत्य की खोज के लिए जंगल चले गये। इससे उनकी पत्नी और बच्चे को कष्ट हुआ। चित्रकार पॉल गॉगिन भी ऐसे ही घर छोड़ कर चला गया था। अब ऊपर से देखने पर दोनों के द्वारा लगभग एक जैसा ही कार्य किया गया लेकिन गौतम बुद्ध के उस कर्म को नैतिकता की पराकाष्ठा में देखा गया और उसे 'महाभिनिष्क्रमण' कहा गया लेकिन पॉल गॉगिन के कार्य का नैतिक मूल्याँकन उस रूप में नहीं किया गया। ऐसी स्थिति में दोनों के कर्मों का नैतिक अन्तर केवल चेतना के निम्न और उच्च धरातल के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। वस्तुतः चेतना के जिस स्तर पर ऐसे कर्म अकर्त्तव्य की कोटि में आते हैं, गौतम बुद्ध चेतना की उससे बहुत उच्च भूमि पर स्थित थे जबकि पॉल गॉगिन वैसा नहीं था।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि चेतना की अवस्था–विशेष से किसी कर्म की कर्मवत्ता और अर्थवत्ता दोनों प्रभावित होती है। परन्तु चेतना की साधारण अवस्था में किये जाने वाले अन्याय प्रकार के कर्मों का नैतिक मूल्याँकन करने के लिए हमारे पास कुछ सामान्यीकृत आधार भी होने चाहिए। भारतीय नैतिक चिन्तन के इतिहास में ऐसे सामान्यीकृत आधारों की चर्चा व्यक्त रूप में उस तरह से नहीं की गई है जैसा कि सुखवादी, उपयोगितावादी पाश्चात्य नैतिक विचारकों ने किया है। ऐसा इसलिए कि भारतीय नैतिक चिन्तन में कर्म के आन्तरिक पक्ष पर उसके औचित्य निर्धारणार्थ अधिक महत्त्व दिया गया है। पाश्चात्य नैतिक चिन्तन में कर्म का वैसा कुछ भी नही जिस उसका आन्तरिक पक्ष कहा जा सकें। कर्म सर्वांशतः बाह्य–आयामिक है। आत्मचेतना से अध्यूषित होकर कोई कर्म अपने आन्तर आयाम को अवाप्त करता है। पाश्चात्य अभिमत में जब चेतना की व्याख्या ही एक भौतिक क्रिया के रूप में की जाती है तो आत्मचेतना से युक्त कर्म का तात्पर्य आन्तर के ही बाह्य क्रियान्वयन के रूप में अवधारण का प्रश्न ही नहीं उठता। इस सन्दर्भ में कालिदास की यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि सज्जन व्यक्ति के द्वारा किये गये कार्य से यदि किसी का अपकार भी हो जाय तो उसे अपकार नहीं समझना चाहिए और दुर्जन व्यक्ति के द्वारा किये गये कार्य से यदि किसी का उपकार भी ओर जाय तो उसे उपकार नहीं समझना चाहिए (याञ्चामोघावरमधगुणे नाधमेलब्धकामा)। अब यदि किसी कर्म का स्वरूप केवल बाह्यामिक ही है और उसका मूल्य

उससे उत्पन्न केवल ऐन्द्रिक सुख और उपयोगिता में ही है तो कालिदास की उपर्युक्त बात का कोई अर्थ और महत्त्व ही नहीं हो सकता। परंतु कालिदास की बात अर्थवान् और महत्त्वपूर्ण दोनों है। वस्तुतः सुख और उपयोगिता के परिणाम को जब हम औचित्य का मानदण्ड बनाते हैं तो वास्तव में हम 'क्रिया' का मूल्याँकन कर रहे होते हैं, कर्म का नहीं। क्रिया से भिन्न कर्म की कर्मवत्ता तो इस बात में निहित होती है कि कर्त्ता कर्म का अनन्य साक्षी होता है। इसलिए कर्म सदैव आत्म चेतन कर्म हुआ करता है। इस दृष्टि से कर्म सदैव कर्त्ता के आत्मक्रियान्वयन रूप ही होते हैं। इस दृष्टि से कर्म की कर्मवत्ता उसकी अर्थवत्ता से अधिक आधारभूत हो जाती है। यही कारण है कि भारतीय नैतिक चिन्तन में कर्मवत्ता से अर्थवत्ता के अनुप्राणित होने और निर्धारित होने की दृष्टि अपनायी गई है जबकि पाश्चात्य नैतिक चिन्तन में कांट जैसे नैतिक चिन्तकों को छोड़कर अधिकांशतः अर्थवत्ता से ही कर्मवत्ता प्रमाणित होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो पहले में कर्म का नैतिक मूल्य स्वतःप्रामाण्य होता है जबकि दूसरे में परतः प्रामाण्य। वस्तुतः शुद्ध और सुदृढ़ चित्तभूमि पर शुभ संकल्प से किये गये कर्म की कर्मवत्ता ही स्वायत्त रूप में स्वतः प्रामाण्य होती है। इस रूप से किये गये कर्म की परिणामोन्मुखी अर्थवत्ता यदि सन्दर्भ विशेष में शुभोत्पादक न भी हो तो उससे उस कर्म की कर्मवत्ता कुत्सित नहीं हो जाती (सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्–याज्ञवल्क्य स्मृति)। यहाँ एक बात जो इस सन्दर्भ में गहरे तौर से विचारणीय है वह यह कि शुद्ध और सुदृढ़ चित्तभूमि पर शुभ संकल्प के साथ किया गया कर्म भ्रान्त हो सकता है अथवा नहीं ? वास्तव में देखा जाय तो इस प्रकार की भ्रान्ति की सम्भावना को एक बारगी नकारा भी नहीं जा सकता। इतिहास में बड़े–बड़े ऋषि–मुनि इस प्रकार की भ्रान्ति के शिकार हुए हैं। अतएव कहा जा सकता है कि शुद्ध और सुदृढ़ चित्तभूमि पर कर्म की कर्मवत्ता का नैतिक प्रामाण्य भले ही स्वतः हो लेकिन यदि वह भ्रान्त है तो उसका अप्रामाण्य परतः ही सिद्ध होता है। यद्यपि इस प्रकार की भ्रान्तियाँ हमारी व्यक्तिगत चेतना अथवा सांस्कृतिक संस्कारों के इतने गहरे स्तर पर प्रविष्ट होते हैं कि उनका निराकरण कोई विरले ही बुद्ध पुरूष कर पाता है। व्यक्तिगत जीवन में कब हम अपनी उदारता प्रदर्शित करते हुए वास्तव में अपने अहंकार को संतुष्ट कर रहे होते हैं और कब परमार्थ के नाम पर छद्म रूप

से स्वार्थ को सिद्ध कर रहे होते हैं, यह निर्भ्रान्त रूप से जान पाना बड़ा ही दुष्कर होता है। गीता कर्म, अकर्म और विकर्म की विवेचना करते हुए भी 'कर्मणा गहनो गति' कह कर धर्माधर्म बोध की इसी दुष्करता का संकेत करती है।

IV

अवधेय है कि भारतीय परम्परा में यत्र–तत्र जहाँ–कहीं भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय हेतु सामान्यीकृत आधारों को सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया है वहाँ अन्ततः कर्म की कर्मवत्ता को ही शुद्ध और सुदृढ़ करने के प्रयास दिखाई देते हैं। कर्म–चेतना की यह विशुद्धि भारतीय नैतिक चिन्तन के लिए आधारभूत और आदर्शोपम्य दोनों है। मनु ने धर्म का स्रोत बताते हुए कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय के लिए श्रुति, स्मृति, सदाचार और 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' नामक चतुर्विध आधारों को प्रस्तावित किया है (श्रुतिस्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः)। वस्तुतः ये चार प्रकार के प्रमाण हैं जिनकी सहायता से कोई व्यक्ति नैतिक निर्णय ले सकता है। परन्तु इनमें से चौथा प्रमाण पहले के तीन प्रमाणों से बिल्कुल भिन्न प्रकार है। पहले तीन में हम सम्पादित हुए कर्मों की परीक्षित अर्थवत्ता के ऐहिहासिक अनुभवों को दृष्टान्त बनाकर हम उनके अनुकरण से अपने को प्रमाणित करते हैं। अतएव पहले के तीनों प्रमाणों को अनुकरणात्मक या फिर परामर्शात्मक कहा जा सकता है। परन्तु अन्तिम चौथे प्रमाण की विलक्षणता इस बात में निहित है कि इसमें हम बिना किसी की सहायता के कर्म में स्वतः प्रवृत्त होते हैं। यह कर्म की मानवी–प्रस्थिति के सर्वथा अनुकूल भी है क्योंकि कर्म की प्रत्येक परिस्थिति अपने आप में बहुत विलक्षण होती है और उस परिस्थिति की जटिल संरचना में 'कर्त्ता' स्वयं एक घटक होता है जो स्वरूपतः नितान्त अनन्य है। ऊपर से देखने पर यह प्रमाण बड़ा भयावह दिखता है क्योंकि ''जो जिसको अच्छा लगे वही उसके लिए प्रमाण है''–एक प्रकार से स्वेच्छाचार जैसा है। पारम्परिक व्याख्या के अनुसार मनु निर्दिष्ट चारों प्रमाणों में संदेह की स्थिति उत्पन्न पर पूर्व–पूर्व की अपेक्षा उत्तर–उत्तर का प्रामाण्य सबल माना जाता है। उदाहरण के लिए यदि श्रुतियों में विरोध हो तो स्मृति से अनुमोदित विकल्प का प्रामाण्य, यदि स्मृतियों में विरोध हो तो सदाचार से अनुमोदित विकल्प का प्रामाण्य और यदि सदाचार में भी विरोध हो तो 'स्व' को जो प्रिय लगे उस विकल्प में प्रमाण्य का ग्रहण किया जाना चाहिए।

परन्तु चौथे प्रमाण पर उसकी स्वायत्तता में विचार किया जाय तो वास्तव में यह एक ऐसा प्रमाण्य है जो हमें किसी उदाहरण को देकर छुट्टी पाने का अवसर नहीं देता बल्कि सम्पूर्ण उत्तरदायित्व हमारे ऊपर ही छोड़ देता है। अतएव 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' का अर्थ आत्मसामुख्य की स्थिति में कर्म–चेतना है जो कर्म के क्रियान्वयन की पूर्व भूमि होती है। इसी भूमि पर कर्म की कर्मवत्ता स्वतः प्रामाण्य होती है। अतः मुन द्वारा प्रस्तावित चारों प्रमाणों में 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' ही सर्वोपरि प्रमाण है। महाकवि कालिदास ने भी धर्मा–धर्म निर्णय में शुद्ध चित्त वाले व्यक्तियों के अन्तःकरण की प्रवृत्ति को ही अन्तिम और सर्वोपरि प्रमाण माना है (सतां सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः)। भारतीय नैतिक दृष्टि में चेतना की शुद्धता अथवा अन्तःकरण की पवित्रता को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। बुद्ध का 'अप्प दीपो' और गाँधी की 'अन्तरात्मा की आवाज सुनने' में भी इसी दृष्टि को अक्षुण्ण रखा गया है। वस्तुतः कर्त्ता और कर्तृत्व की अनन्यता में स्वतः प्रामाण्य कर्मवत्ता का इससे बेहतर कोई दूसरा मार्ग हो भी नहीं सकता। परन्तु यहाँ द्रष्टव्य है कि चित्त की शुद्धता और अन्तःकरण की पवित्रता कोई सहज–प्राप्त स्थिति नहीं है। इसके लिए कुछ आवरणों का उच्छेद करना होता है और उनमें सबसे पहला आवरण है "अहंकार"। हम अहंकारयुक्त कर्तृत्व में भी अनन्य होते हैं और निरहंकार कर्तृत्व भी अनन्य होता है, लेकिन दोनों स्थितियों में अन्तर इतना होता है कि पहले प्रकार की अनन्यता में व्यक्ति अणु होता है कि जबकि दूसरे प्रकार की अनन्यता में व्यक्ति समग्र, एक ब्रह्माण्ड होता है। इस दूसरे प्रकार की अनन्यता में अपने प्रति उत्तरदायी होने का मतलब पूरे संसार के लिए, पूरी मानवता के लिए उत्तरदायी होना है। यद्यपि यह एक आदर्श स्थिति है फिर भी मानवीय क्रिया–कलापों के विभिन्न सन्दर्भों में न्यूनाधिक रूप से यह चरितार्थ होता है, इस बात को निम्न श्लोक में पूरे अर्थ और आचरण की गम्भीरता में देखा जा सकता है –

त्यजेत् एकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे सर्वं त्यजेत्।।

भारतीय नैतिक दृष्टि में "स्वस्य च प्रियमात्मनः" और प्रमाण अन्तःकरणप्रवृत्तयः" पर अधिक बल देने का मतलब यह नहीं कि श्रुति, और सदाचार इत्यादि प्रमाण नहीं हैं। ये सभी प्रमाण माने जा सकते हैं। क्योंकि आखिरकार वे भी ऐसे ऋषि–मुनियों के क्रियान्वित कर्म चेतना के आधार पर

दिये गये परामर्श हैं जिन्हें आत्म–दर्शी पद से अभिहित किया जा सकता है। सदाचार भी इसी प्रकार के क्रियान्वित और परीक्षित कर्मचेतना जन्य परामर्श की कोटि में आते हैं। परन्तु इन सभी प्रमाणों की भूमिका एक सहायक प्रमाण के रूप में ही स्वीकार की जा सकती है। उदाहरण के तौर पर हम अपने प्रत्यक्ष को अन्यों के प्रत्यक्ष से पुष्ट करते हैं अथवा अपने स्वार्थानुमान को पंचावयव वाक्यों के माध्यम से जब परार्थ बनाते हैं तो पंचावयव को सुनने वाला व्यक्ति उसे शब्द प्रमाण के रूप में ग्रहण नहीं करता बल्कि उसमें 'पर्वतो वह्निमान्' की स्वतंत्र प्रमिति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार श्रुति, स्मृति और सदाचार मूलक परामर्श हमारी कर्म–चेतना और नैतिक बोध को प्रोन्नत करते हैं। यदि गीता के सन्दर्भ में इन सहायक प्रमाणों पर विचार करें तो उनकी भूमिका पूरे तौर से तब स्पष्ट हो जाती है जब श्रीकृष्ण अर्जुन को सब प्रकार से उपदेश देने के बाद यह कहते हैं कि हे! अर्जुन अब तुझे जैसा उचित लगे तू वैसा ही कर। इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रुति, स्मृत्यादि प्रमाणों की सूची को हम जितना भी क्यों न बढ़ा लें, वे सभी हमारी कर्मचेतना को अध्युषित और अध्यारूढ़ करने के ही निमित्त मात्र होते हैं। भारतीय नीति–दर्शन में नैतिक कर्त्ता (मॉरल एजेन्ट) की स्वतंत्रता और उसके कर्तृत्व की अनन्यता की दृष्टि से यह बात अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

यहाँ द्रष्टव्य है कि भारतीय परम्परा की ऐसी नैतिक दृष्टि, वास्तव में, उन संस्कृतियों और सभ्यताओं की नैतिक दृष्टि से एकदम भिन्न है जो किसी महापुरुष अथवा धर्म ग्रन्थ को एकबारगी और अन्तिम प्रमाण मानकर चलती हैं। उदाहरण के लिए सामी संस्कृतियों की नैतिक दृष्टि में 'नैतिक परामर्श' के लिए कोई अवकाश ही नहीं है बल्कि जो कुछ भी है वह सर्वांशतः अनुलंघ्य रूप से निर्देशात्मक है। यह अनुलंघ्य निर्देशात्मकता एक प्रकार से ईश्वरपरायत्ततावादी दृष्टि है जिसमें ईश्वरीय नियम डेमोक्लीज की तलवार की तरह नैतिक कर्त्ता के ऊपर लटकती रहती है। परिणाम स्वरूप ईश्वरीय प्रेम के स्थान पर, वास्तव में ईश्वरीय भय ही नैतिक जीवन का नियंता बन जाता है। कठोपनिषद् में ठीक इसके विपरीत एक दूसरी दृष्टि मिलती है जिसमें यह कहा गया है कि "ईश्वर हमारे शीश पर गरजने वाला महाभयंकर वज्र है जिसे जानने पर ही मनुष्य अमर हो सकता है क्योंकि आग जलती है, सूर्य प्रकाशित है, देवेन्द्र, वायु और पाँचवीं मृत्यु अपने–अपने व्यापारों में संलग्न हैं, यह सब कुछ क्या उसके भय के कारण ही है (महद्भयं वज्रमुद्यतं

य एतद्विदुरमृतास्ते भवति। भयादस्याग्निस्तपति भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिंद्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः। कठोपनिषद् – ।।.6.3–20)। वस्तुतः नैतिक दृष्टि में आत्मा–प्रेरित निमय के अतिरिक्त किसी परायत्त नियम को नैतिकता का पर्याप्त प्रमाण माना ही नहीं जा सकता। इसीलिए भारतीय और सामी परम्परा की नैतिक दृष्टि के बीच मूलगामी अन्तर को विवेक मूलक स्वायत्त औचित्य–प्रणाली और धार्मिक आदेश मूलक परायत्त आस्था–प्रणाली के रूप में समझा जा सकता है। भारतीय परम्परा में तो एक कदम और आगे बढ़कर यहाँ तक स्वीकार किया जाता है कि –

''तर्कोऽप्रतिष्टितः श्रुतयो विभिन्ना, नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनों येन गतः स पन्था।।''

अर्थात्–धर्म–ज्ञान के लिए तर्क अप्रतिष्ठित है। श्रुति और स्मृतियाँ अनेक और परस्पर भिन्न हैं। कोई ऐसा ऋषि–मुनि नहीं जिसे प्रमाण माना जाय। धर्म का तत्त्व तो गुहा के गह्वर में निहित होता है। इसलिए महाजनों के द्वारा चले मार्ग पर चलना ही उचित है। द्रष्टव्य है कि यहाँ पौरूषापौरूषेय श्रुति–स्मृतियों की धर्म–ज्ञान के प्रति निर्णायक भूमिका का विरोध करते हुए एक ओर धर्म–नीति के तत्त्व को गुहा में निहित बनाया जा रहा है तो दूसरी ओर उससे निकलने के लिए 'महाजन' के द्वारा चले हुये मार्ग को धर्म–मार्ग कहा जा रहा है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि वह 'महाजन' कौन है जिसे श्रुति–स्मृतियों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रमाणिक माना जा रहा है। भारतीय परम्परा में यदि श्रुति–स्मृतियों की विभिन्नता सोची जा सकती है तो महाजन भी अनेक और परस्पर भिन्न दृष्टि वाले क्यों नहीं हो सकते। अतः प्रकृत प्रसंग में महाभारत के इस श्लोक का तात्पर्य कुछ और ही है और उसे समझने के लिए सर्वप्रथम 'महाजन' पद का अर्थ समझना यहाँ उपयोगी हो सकता है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र जिसे धर्मशास्त्रीय परम्परा का प्राचीनतम ग्रंथ माना जाता है, उसमें एक प्रश्न उपस्थापित करते हुए कहा गया है कि ''धर्म और अधर्म यह कहते हुए नहीं घूमते–फिरते कि देखो यह हमारा स्वरूप है। देव, गन्धर्व और पितर इत्यादि भी स्वयं आकर यह नहीं बताते कि यह धर्म है और यह अधर्म। तब फिर धर्म को कैसे जाना जाय ? आपस्तम्ब कहते हैं कि वैसे कार्य जो आर्यों के द्वारा प्रशंसित हो, वह धर्म है और वैसे कार्य जिसकी आर्य निन्दा करें, वह अधर्म है। पुनः आर्य के समान्य लक्षणों का

निर्देश करते हुए कहा गया है कि "सभी जनपदों में हमें शिष्ट, समाहित, आत्मस्थ, जितेन्द्रिय, अलोलुप और दम्भ रहित आर्य व्यक्ति के आचरणवृत को अपनाना चाहिए अर्थात् उसके सदृश आचरण करना चाहिए"। इस प्रकार स्पष्ट है कि आपस्तम्ब धर्म–नीति के सार को शिष्टाचार के आचरण में देख रहे हैं और शिष्टाचार का आदर्शभूत रूप हमें आर्यों के आचारण में मिलता है। अतएव आर्य धर्मप्रमाणभूत है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में जिसे आर्य कहा गया है वही महाभारत में 'महाजन' पद से अभिहित हुआ प्रतीत होता है। अन्तर केवल इतना है कि आपस्तम्ब जहाँ आर्यों की बात (बहुवचनान्त) करते हैं वहीं महाभारत में आर्य की बात (एकवचनान्त) की गई है। यद्यपि प्रकृत प्रसंग में बहुवचनान्त 'आर्य' और एकवचनान्त 'महाजन' के प्रयोग में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है क्योंकि आर्य अथवा महाजन के सामान्य लक्षण में दोनों का समन्वय हो जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् के एक प्रसिद्ध अवतरण से भी इस बात की पुष्टि होती है कि कर्मविचिकित्सा और वृतविचिकित्सा की स्थिति में हमें अपने आचरण का निर्माण उन्हीं के आचरण के आदर्श पर करना चाहिए जो हमसे श्रेष्ठ हैं और अपनी श्रेष्ठता को चरितार्थ करते हुए हमें आचार–नियम प्रदान करने की स्थिति में हैं। यहाँ श्रेष्ठता की पहचान सम्मर्शिन (उत्तम विचार वाले), युक्ताः (परामर्श देने में कुशल), आयुक्ताः (कर्म आर सदाचार में पूर्णतया संलग्न), अलूक्षा (सौम्य स्वभाव वाले) और धर्मकायाः (एकमात्र धर्म के अभिलाषी) इत्यादि चारित्रिक गुणों से की गई है।

अब देखा जाये तो आपस्तम्ब धर्मसूत्र से लेकर महाभारत तक और उसके बाद जहाँ भी शिष्ट, आर्य एवं महाजन आदि पदों से जिन चारित्रिक विशेषताओं को रेखांकित किया गया है, वे सभी ऋषि–मुनियों के चरित्र पर भी समान रूपसे लागू किये जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में महाभारत के उपयुद्धृत श्लोक का अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि ऋषि–मुनियों को नकार कर केवल– 'महाजन' के आचरण–वृत में ही धर्म–नीति का प्रामाण्य ग्रहण किया जाय। वस्तुतः महाभारत के श्लोक का निहितार्थ 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' बताने में है और इस श्लोक में धर्म–नीति के इसी पक्ष को बलपूर्वक प्रस्तावित किया गया है। अब यदि यह सही है तो धर्म–निर्णय का एक मात्र स्रोत उसके आत्मप्रकाशित, अप्पदीप और अन्तःसाक्ष्य होने में निहित हो जाता है। चूँकि यह सब कुछ 'महाजन' की कर्म–चेतना में आवश्यक रूप से पाये जाते हैं, इसलिए उसे प्रमाण माना जा सकता है।

परन्तु यहाँ द्रष्टव्य है कि धर्म–निर्णय में महाजन के प्रामाण्य को उस अर्थ में सर्वांशतः अनुकरणात्मक नहीं कहा जा सकता जिस अर्थ में साधारणतया अनुकरण शब्द का प्रयोग होता है। कारण यह कि वे सभी गुण–लक्षण जिसके चलते कोई व्यक्ति महाजन पद से अभिहित होता है, उस व्यक्ति के आचारण के बाह्यपक्ष नहीं बल्कि उसकी कर्म–चेतना के नियामक आन्तरिक गुण कहे जा सकते हैं। ऐसे सभी गुण चेतना के जिस धरातल पर दृढ़ता को प्राप्त होते हैं वह स्व से ऊपर उठी हुई आत्मचेतन भूमि ही हो सकती है। अतः महाजन के अनुकरण का तात्पर्य महाजन होने में है, उसकी चरित्रिक विशेषताओं को आत्मसात् करने में है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय नैतिक दर्शन में अन्तःप्रसुत स्वायत्त धर्मबोध को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है और उसके परायत्त स्रोतों को सहायक प्रमाण की भूमिका में स्वीकार करते हुए उन्हें 'परामर्श' से अधिक मान्य नहीं किया गया है। गीता में अर्जुन की कर्मविचिकित्सा और वृत्तविचिकित्सा के निवारणार्थ भगवान् श्री कृष्ण उपदेशों का इतना व्यापक उपाख्यान प्रस्तुत करने के बावजूद भी समस्त उपदेशों को 'परामर्श' की भूमिका में समेटते हुए 'यथेच्छसि तथा कुरू' कह कर अर्जुन को आत्मप्रकाशित धर्मबोध के अनुसार आत्मनिर्णय के लिए स्वतंत्र छोड़ देते हैं। परन्तु अर्जुन को आत्मनिर्णय की स्वतंत्रता दिये जाने से भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेशों की निरर्थकता फलित नहीं होती है। वस्तुतः आत्मप्रकाशित धर्मबोध की स्थिति 'आत्मसामुख्य' की स्थिति होती है और उससे अनुप्राणित कर्मचेतना में श्रुति, स्मृति और सदाचार इत्यादि नैतिक परामर्श के परायत्त स्रोत वास्तव में 'स्व' बनकर स्व के संकल्पभूत होकर प्रकट होते हैं। सामान्य व्यक्तियों का धर्मबोध प्रायः आत्म प्रकाशित धर्मबोध नहीं होता। उनकी नैतिक दृष्टि अन्य के प्रकाश के सहारे ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय ले पाती है। अर्थात् आत्मप्रकाशित धर्मबोध के अयोग्य व्यक्ति में नैतिकता के परायत्त स्रोत एक सामाजिक रूढ़ि बनकर प्रकट होते हैं। जब किसी समाज अथवा संस्कृति का नैतिक बोध अधिकांश में रूढ़ सरणियों में चरितार्थ होने लगता है, तो कालान्तर और बदली हुई परिस्थितियों में पूरा–पूरा समाज ही एक प्रकार की जड़ता या प्रमाद से ग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार की जड़ता तो कभी–कभी युगबोध का रूप धारण कर लेती है, और तब उस पूरे समाज का भ्रान्त अथवा उपहित धर्मबोध ही आत्मप्रकाशित धर्मबोध का स्थानीय बन

जाता है। भारतीय परम्परा में श्रुति–स्मृतियों के नाम पर जात–पांत, छुआ–छूत इत्यादि के भेद–भाव जो दिखाई पड़ते हैं, उन्हें इस परम्परा का उपहित औचित्यबोध ही कहा जा सकता है। जबकि श्रुति–स्मृतियों की वह तत्त्व–दृष्टि जो भारतीय संस्कृति के औचित्यबोध का मूलगामी रूप से निर्धारक है, उसमें उपर्युक्त प्रकार के सामाजिक–सांस्कृतिक विकारों के लिए सिद्धान्ततः कोई अवकाश नहीं हैं। निष्कर्षतः आचार्य यशदेव शल्य के शब्दों में "आत्मप्रकाशित धर्मबोध में नैतिक अन्वेष्य का अर्थ है मनुष्य के स्वरूप विषयक ऐसा मानदण्ड जो उसके कर्मों को एक आध्यात्मिक अर्थ दे, एक ऐसी आदर्श आत्म–प्रतिमा दे जिसकी अनुकृति में वह अपने प्रस्तुत स्वरूप को ढाल सके और उसका रूपान्तरण करने के प्रयत्न द्वारा अपने कर्मों को अर्थ दे सके।" ऐसी नैतिक दृष्टि एक नैतिक कर्त्ता से अपनी कर्म चेतना में जैव धरातल से ऊपर उठने की अपेक्षा करता है जहाँ कर्म की कर्मवत्ता अपने आप में स्वतः प्रामाण्य होती है। भारतीय परम्परा में चाहे धृति–क्षमा इत्यादि धर्म के दसविध लक्षण हों, चाहे श्रुति, स्मृति, सदाचार और स्वस्य प्रियमात्मनः जैसे धर्म निर्णय के चतुर्विध स्रोत हों या फिर 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' जैसा धर्म का अनौपाधिक स्वरूप बताया गया हो – सबके सब उपर्युक्त अपेक्षा के पूर्वग्रह अथवा हेतु रूप से ही कहे गये हैं।

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.)

भारतीय दर्शनों में वेदापौरुषेयत्ववाद

नारायण शास्त्री द्राविड़

भारतीय दर्शनांतर्गत सभी आस्तिक दर्शन वेदापौरुषेयत्वधारणा को–जिसके अनुसार समग्र वैदिक वाङ्मय अनादिकाल से विद्यमान है, विश्व की सृष्टि होने के पूर्व वह विद्यमान था, प्रलयकाल के बाद भी वह किसी न किसी रूप में विद्यमान होकर दूसरी सृष्टि के प्रारंभ में पुनः ऋषिमुनियों द्वारा प्रचारित होगा – ऐसा स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। लेकिन कोई भी नास्तिक दर्शन इस धारणा को अंशतः भी स्वीकार नहीं करते। बौद्ध पंडित धर्मकीर्ति ने वेदापौरुषेयत्व समर्थनार्थ महामीमांसक कुमारिल भट्ट द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्कों का विस्तृत खंडन अपने प्रमाणवार्तिक नामक सुप्रसिद्ध ग्रंथ में किया है।

इस संबंध में यह बात ध्यातव्य है कि वेदापौरुषेयत्व विचार, इसके पुरस्कारक मीमांसेतर किसी भी आस्तिक दर्शन के लिये न आधारभूत है और न ऐसे किसी आधारभूत सिद्धान्त का पोषक है। फिर भी इन सभी दर्शनों ने इस विचार को प्रमाण के रूप में स्वीकार कर लिया है। अपौरुषेयत्व के दो अलग–अलग अर्थ हैं। इसमें एक अर्थ का प्रबल समर्थन मीमांसा करती है लेकिन दूसरे अर्थ का समर्थन या अनुसरण मीमांसेतर सभी दर्शन करते हैं। पहला अर्थ स्वयंभू, अर्थात् किसी के द्वारा भी रचित न हो कर सदैव विद्यमान रहना यह है जिसका जोरदार समर्थन मीमांसा करती है क्योंकि उसकी ज्ञानमीमांसा के लिए ऐसे अपौरुषेयत्व की धारणा अपेक्षित है। अन्य दर्शन अपौरुषेयत्व का अर्थ 'ईश्वर रचितत्व' ऐसा लेते हैं। उनके अनुसार ईश्वर ही वेदों की रचना सृष्टि के प्रारंभ में कर उनकी शिक्षा – स्वयं कोई न कोई मानवीय अवतार धारण कर – ऋषिमुनियों को देता है। इस संबंध में किसी भी आस्तिक दर्शन ने कोई निश्चित विचारणीय मत नहीं प्रस्तुत किया है। एक सृष्टि के प्रलय के बाद दूसरी सृष्टि का प्रारंभ होने तक वेद कैसे और कहाँ विद्यमान होते हैं, और यदि वे कहीं विद्यमान होते हैं तो उनमें कोई परिवर्तन कैसे घटित नहीं होता जिससे वे सदैव एक जैसे बने रहते हैं। इन

जैसे प्रश्नों की आवश्यक और सयुक्तिक चर्चा आस्तिक दर्शनों में नहीं के बराबर है। इस पर से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वेदापौरूषेयत्व विचार मीमांसेतर आस्तिक दर्शनों के लिये मुख्यतया श्रद्धा का विषय है, तर्क का नहीं। यही कारण है कि ये दर्शन अपने विभिन्न सिद्धान्तों को प्रथमतया तर्क या युक्ति के द्वारा प्रस्थापित करते हैं और तदनंतर ही उस सिद्धान्त का समर्थनपरक कोई वेद वाक्य उपलब्ध हो तो उसे उद्धृत करते हैं। इससे उस सिद्धान्त की प्रामाणिकता सामान्य जनों की दृष्टि में बढ़ जाती है। उदाहरण के रूप में नैयायिक प्रवर विश्वनाथ पंचानन अपने न्यायासिद्धान्तमुक्तावली में ईश्वरास्तित्व साधनार्थ अनुमान प्रमाण की विस्तार से साधक चर्चा करने के बाद 'द्यावापृथिवी जनयन देव एकः विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता' इस ईश्वर कर्तृत्वबोधक वेदवाक्य को अनुमान प्रमाण के समर्थनार्थ प्रस्तुत करते हैं। इस पर से कोई यदि यह निष्कर्ष निकाले कि विश्वनाथ पंचानन या अन्य आस्तिक दार्शनिक वेदवाक्यों को अनुमानादि के समान ही प्रमाण मानते हैं तो वह नितांत गलत होगा। केवल श्रद्धावश ये दार्शनिक वेदवाक्यों का अपने सिद्धान्तों के समर्थनार्थ उपयोग करते हैं। यदि उन दार्शनिकों से पूछा जाय कि वे वेदवाक्यों को क्यों प्रमाण मानते हैं तो उनका उत्तर यह होगा कि वे ईश्वर रचित हैं। लेकिन वेद ईश्वर रचित हैं, यह बात स्वयं वेदवाक्यों से ही ज्ञात होती है। उसके लिये अन्य कोई आधार नहीं है। अतः ईश्वर और वेदों की प्रमाणता को परस्पराश्रित माने बिना गत्यंतर नहीं है। इसी से यह मानना पड़ता है कि वेदापौरूषेयत्व विचार– जो अनेक संभ्रमों से अवगुंठित होने के कारण अविचारित रमणीय ही है। यद्यपि मीमांसेतर दर्शनों के लिये यह श्रद्धा का ही विषय है लेकिन यह श्रद्धा वास्तव में ढुलमुल ही है। यदि कोई वेदवाक्य किसी दर्शन के किसी न किसी सिद्धान्त का विरोधी प्रतीत होता हो तो वह दर्शन उस सिद्धान्त को न बदलते हुए उस वेदवाक्य के अर्थ को ही बदलने का प्रयास करता दिखाई देता है। इस तथ्य का एक उदाहरण माध्व वेदान्त का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त जीवेश्वर ऐक्य का पूर्ण विरोधी है। किन्तु उपनिषद् का एक महावाक्य 'वह परमात्मा ही तुम जीवात्मा रूप श्वेतकेतु हो। अर्थात् जीवात्मा परमात्मा का ऐक्य इस महावाक्य का अभिधेय है। इस स्वसिद्धांत शब्द के बाद अकार जोड़कर 'स आत्मा अतत्त्वमसि श्वेतकेतो' ऐसा वाक्यांतर माध्ववेदान्तियों ने बना लिया है जिससे जीव–परमेश्वर भेद औपनिषद् प्रतिपाद्य प्रतीत हो। इस तरह वेदवाक्यों से मनमाने अर्थ

निकालकर उन्हें स्वमतानुकूल सिद्ध करना आस्तिक दार्शनिकों के लिये एक सामान्य बात है। इससे यह सिद्ध होता है कि अपौरूषेयत्व मूलक वेद प्रामाण्य का पुरस्कार मीमांसेतर दर्शनों के लिये कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। सामान्य जनों की श्रद्धा भावना को ठेस न पहुँचाना यही मुख्यतया वेद वाक्यों के उद्धरण का प्रयोजन होता है।

अब यह देखना है कि वेदापौरूषेयत्व कल्पना को मीमांसा ने असामान्य महत्त्व क्यों दिया और उसके समर्थनार्थ अनेक सही और अत्यंत गलत भी विचार क्यों प्रस्तुत किये। एतदर्थ प्रथम वेद क्या हैं यह अच्छी तरह जानना आवश्यक है। वेद शब्द संस्कृत का एक क्रियापद है। इसका अर्थ 'मैं जानता हूँ' ऐसा होता है। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग वेद में ही 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्य वर्णः तमसा परस्तात्' और 'नाहं वेद सुवेदेति नो न वेदेति वेद च' इत्यादि वैदिक सूक्त मंत्रादि में किया गया है। इस ज्ञानक्रियार्थक क्रियापद का संज्ञा रूप प्रयोग ज्ञान या ज्ञान कोश जैसे अर्थ में कब से और कैसे किया जाने लगा इस बात को कोई नहीं जानता। वेद या वैदिक वाङ्मय को ज्ञान का भंडार या सभी दार्शनिक–अदार्शनिक ज्ञान का मूल या आकर अति प्राचीन काल से ही माना जाने लगा। इस वाक्य के लिये प्रयुक्त होने वाला दूसरा शब्द 'श्रुति' है। इसका अर्थ स्पष्ट है और वह इस वाक्य को ठीक तरह लागू होता है। अति प्राचीन काल से वेदों को अध्ययन–अध्यापन प्रणाली से ही बचा कर रखा गया है। प्रत्येक वेदाध्यायी व्यक्ति अपने गुरू के मुख से सही सस्वर वेद मंत्र का श्रवण कर ही उसको स्वयं यथावत ग्रहण करता रहा है। श्रुति अर्थात् गुरू मुख से किये जाने वाले मंत्र पाठ को ठीक तरह सुनने के बाद उसे दुहराकर याद करना यही वेद पढ़ने का तरीका प्राचीन काल से चला आ रहा है। वेदों के आदिम अध्यापक (सृष्टि के समय के) ईश्वर स्वयं किसी मानव के रूप में और उनके शिष्य माने गये सनक, सनन्दन, सौनकदि ऋषिगण रहे हैं। ऐसा माना जाता है। वस्तुतः ये सब कल्पना की उड़ाने हैं। उनमें निहित सत्य इतना ही है कि वेदों का अध्ययन–अध्यापन अविच्छिन्न रूप से हजारों वर्षों से चला आ रहा है। इस कारण वेद बिना अधिक रूपांतर के अब तक अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं।

वेद क्या हैं और उनका कितना विस्तार है, यह आज भी निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। वेद क्या हैं, इस प्रश्न का स्थूल रूप से उत्तर ऐसा है – ऋक्, यजु, साम, अथर्व इन संज्ञा वाले चार प्रमुख वेद हैं। ऋक् संज्ञक

वेद में अग्नि, इंद्र, मरूत् आदि अनेक देवताओं के स्तुतिपरक तथा नासदीय सूक्त जैसे अति गम्भीर चिंतन परक सूक्त भी हैं। इन सूक्तों में विश्व की उत्पत्ति, विलय और तत्कालीन रहस्यमय स्थिति तथा उनका अतीव हृदय स्तंभित कर देने वाला वर्णन है। संपूर्ण ऋग्वेद को एक अति उत्कृष्ट निसर्ग काव्य के रूप में देखा जा सकता है।

नाना प्रकार के यज्ञ–यागों में अग्नि में (यज्ञकुंड की) आहुति देते समय जो मंत्र यज्ञ में सहभागी ऋत्विजों को पढ़ने होते हैं, उनका संकलन यजुर्वेद है। इन मंत्रों में देवताओं का आवाहन किया जाता है। विविध कल्पनायें, कहानियाँ आदि का भी इन मंत्रों में समावेश होता है। ऋग्वेद के सूक्तों का सौन्दर्य इन मंत्रों में नहीं है। यजुर्वेद की दो भिन्न शाखायें या विधायें हैं जो कृष्ण और शुक्ल के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हें ये नाम क्यों दिये गये इस संबंध में कुछ दंतकथायें हैं जिनकी चर्चा अप्रासंगिक है। इन दो प्रकार के वेदमंत्रों के पठन के तरीके भी एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं।

सामवेद भारतीय संगीत का अतिप्राचीन वैदिक कालीन वेद जनित रूप है। कहा जाता है कि जब यज्ञ में मंत्रपाठ करते हुए अपने आसन पर घंटों बैठे रहे ऋत्विज लोग थक या ऊब जाते थे तो अपनी थकान और उबाह मिटाने के लिये वे मंत्रों का पठन रोककर मंत्रों को संगीत में बदलकर उन्हें गाते थे। गीत के रूप में मंत्रों के शब्द सुर में परिवर्तित हो कर एक श्रवणमधुर ध्वनि का रूप ले लेते जिससे समग्र सामवेद की उत्पत्ति हुई, ऐसा माना जाता है। कुल 27 मंत्रों से संपूर्ण सामवेद की रचना संपन्न हुई है।

अथर्ववेद कई विचारकों के मत में प्राचीनतम वेद हैं जबकि अनेक अन्य विचारक ऋग्वेद को प्राचीनतम मानते हैं। अथर्व यह वेद प्रणेता एक ऋषि का नाम है। इस वेद के प्रणेता अथर्व और आंगिरस ये दो ऋषि हैं लेकिन किसी कारणवश अथर्व के ही नाम से यह वेद जाना जाता है। इस वेद में प्रमुखता से कुछ बीमारियों और उनके उपचार के विविध तरीकों की भी विस्तृत चर्चा है। आंगिरस ऋषि के नाम पर जादू–टोना, अभिचार आदि का भी इस वेद में विस्तृत वर्णन हैं। अथर्ववेद के मंत्रों का यज्ञयागादि में विशेष उपयोग नहीं होता।

कुछ वेद– जैसे यजुर्वेद तथा सामवेद – के संहिता, ब्राह्मण ये विभाग हैं और यजुर्वेद के इसके अतिरिक्त आरण्यक, उपनिषद् ये भी विभाग हैं। गोपथ ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, तांड्य महाब्राह्मण भी इसके विभाग हैं जिनमें अनेक वृत्तांत, इतिहास, दंतकथायें आदि वर्णित हैं। उपनिषदों के

अध्यात्मपरक मंत्र तथा श्लोक संहिता भाग से अलग किये गये अंश हैं। इन्हें उपनिषद् यह नाम उनके यज्ञादि कर्मकाण्ड विरोधी तथा चिंतनानुकूल दृष्टिकोण के कारण दिया गया है। 'आरण्यक विभाग'– जो जंगल के एकांत में चिंतनीय तथ्यों का संग्रह है।

विशाल वेदवाङ्मय का चार वेदों में उनके आंतरिक विभागों के साथ वर्गीकरण सैकड़ों वर्ष पूर्व वेदव्यास ऋषि ने किया था, ऐसी पारंपरिक धारणा है। यह वर्गीकरण न किया गया होता तो वैदिक मंत्रों, सूक्तों आदि का क्या और किस प्रसंग में कैसे उपयोग या विनियोग किया जाय यह जानना असंभव था। वशिष्ठ, विश्वामित्र, कण्व आदि प्राचीन काल के भिन्न–भिन्न ऋषिमुनियों ने अपनी आंतरिक प्रेरणा से विभिन्न वैदिक मंत्र तथा सूक्त निर्माण किये। यज्ञादि में उनका विशिष्ट प्रसंगों में प्रयोग किये जाने के उद्देश्य से यह निर्मिति ऋषि–मुनियों ने नहीं की। मंत्रादि के प्रयोग का विचार यज्ञयागादि कर्मकांड के विस्तार के साथ ही किया गया होना चाहिये।

आज उपलब्ध वेद वाङ्मय महाभारत से कई गुना अधिक विस्तृत है लेकिन ऐसी परंपरागत धारणा है कि उपलब्ध वेद की अनेक अनुपलब्ध, लुप्त शाखायें हैं। 'एक शतं अध्वर्युशाखाः, सहस्त्रवर्त्मा सामवेदः' ऐसी परंपरागत उक्तियाँ वेदों के विस्तार को अतीव बढ़ा–चढ़ा कर बताती हैं। इससे भी आगे जाकर प्राचीन भारतीय दार्शनिक प्रत्येक रूढ़ शिष्टाचार की प्रमाणता के लिये उसके आधारभूत अज्ञात वेद वाक्य की कल्पना करते हैं जिससे यच्चयावत् शिष्ट व्यवहार साक्षात् अथवा परंपरया वेदाधारित हो जाता है। वेद का यह एक प्रकार से सांप्रत्ययिक रूपांतरण कहा जा सकता है। वेदों की वास्तव में हजारों शाखायें होती तो वे सभी लुप्त नहीं हो जातीं। उनमें से कुछ तो अवश्य उपलब्ध होतीं। वास्तविकता ऐसी प्रतीत होती है कि उपलब्ध वैदिक वाङ्मय की विशालता को देखते हुए उत्तरवैदिककालीन आपस्तंब, बौधायन, आश्वलायन, वैखानस आदि समाज धुरीण वेदपाठी विचारकों ने वेद को एक व्यापक संप्रत्यय के रूप में जनसाधारण के संमुख प्रस्तुत किया होगा। इसका प्रयोजन समाजिक जीवन के लिये एक प्रमाणभूत परिपूर्ण आधार प्राप्त कराना रहा होगा। सभी प्रचारित आचार की विधायें प्रत्यक्ष या अनुमित या फिर श्रुति से प्रमाणित हैं, इस विश्वास को वेद की धारणा के असीम विस्तार से ही संप्रत्ययाधिष्ठित रूप से निर्माण किया जा सकता था।

अनुमित वेद वाक्यों या वेद शाखाओं के समान आपस्तंब, बौधायन आदि आचार्यों के द्वारा रचित धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, तथा श्रौतसूत्र– जो यज्ञयागादि सामाजिक कर्मकांड, सामान्य धर्म तथा अग्निहोत्रादि दैनंदिन घरेलू आचारों का विस्तार से वर्णन करते हैं (द्रष्टव्य 'अथातो सामयाचारिकान! धर्मान! व्याख्यास्यामः' यह आपस्तंब श्रौत सूत्र का प्रारंभिक वाक्य है) वैदिक वाङ्मय के ही घटक माने जाने लगे। इनके बाद मनुस्मृति और अन्य लगभग सत्ताईस स्मृतियाँ भी वेदों से प्रमाणित समझी जाने के कारण वेद की घटक या वेदाधारित मानी गयीं। आगे चलकर महाभारत को भी वेद का दर्जा दिया गया। (द्रष्टव्य– 'वेदान्–अध्यापयापास महाभारतपंचमान्' यह सुप्रसिद्ध उक्ति) इस प्रकार वेद की धारण का अधिकाधिक विस्तार भारतीय सांस्कृतिक जीवन को पूर्णतया वेदाधिष्ठित ठहराने के उद्देश्य से बुद्धिपूर्वक किया गया ऐसा प्रतीत होता है। फलस्वरूप वेद वाङ्मय न रहकर विविध वाङ्मय समावेशी एक व्यापक प्रत्यय में रूपांतरित हो गया, ऐसा मान सकते हैं।

इस संबंध में यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि उक्त चार वेदों में जनसाधारण की जीवनचर्या के नियंत्रक माने जाने वाले धार्मिक या नैतिक नियमों का कहीं सुसंगत वर्णन नहीं है। यजुर्वेद में यज्ञयाग संबंधी बातों का सत्य या मनगढ़ंत कथाओं तथा देवताओं की स्तुतियों के वर्णन हैं। दैनिक आचार धर्म का विवेवचन धर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्रों में ही किया गया है। इस विवेचन को एक स्वतः प्रमाण का दर्जा प्राप्त कराने के लिये सभी सूत्रग्रंथों को एक प्रकार से वेद का ही एक घटक या भाग ठहरा दिया गया है। यह मान लिया गया है कि जो कुछ सूत्रादि में कहा गया है उसका आधार वेद ही है। यही बात स्मृतियों के संबंध में भी मान ली गयी है। इस तरह चार वेदों में बंटा हुआ वेदवाङ्मय ऊपर बताये मुताबिक उपलब्ध वेद, उसके अनुपलब्ध तथा कल्पित सैकड़ों शाखायें, सूत्र ग्रंथ, अनेक स्मृतियाँ, महाभारत आदि को अपने में समेटते हुए एक असीम ज्ञान भंडार के रूप में पुरातन काल से भारतीयों के लिये मान्य रहा है।

वेदों का यह श्रद्धाभावना से परिकल्पित व्यापक सांप्रत्ययिक स्वरूप ध्यान में रखने पर वेदों के अपौरूषेयत्व और तन्मूलक स्वतः प्रामाण्य का विचार प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के मन में कैसे उत्पन्न हुआ, यह बात समझ में आ सकती है। साधारणतया कोई भी विचारशील व्यक्ति अनंत वाक्य समूहात्मक वेदवाङ्मय को अकर्तृक या ईश्वरकर्तृक तथा ईश्वरप्रचारित कदापि नहीं मानता और वह भी ईश्वर की सत्ता को ही वेदवाक्य से प्रमाणित

(अंशतः) मानने पर। वेदों की स्वतः प्रमाणता या परम प्रमाणता ('धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः', 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इत्यादि प्राचीन पारंपरिक उक्तियों में उपवर्णित) उक्त सांप्रत्ययिक वेद को शुद्ध वेद (श्रद्धावश) मानकर ही स्वीकार की गयी होनी चाहिये।

वैदिक मंत्रों, सूक्तों आदि की अति प्राचीनता तथा अनेक ऋषियों द्वारा भिन्न समयों में उनकी रचना भी वेदापौरूषेयत्व तथा वेद स्वतः प्रामाण्य की (श्रद्धा धारित–तर्काधारित नहीं) कल्पना का कारण कहे जा सकते हैं। समग्र वैदिक माने गये वाङ्मय को एक रूप में देखा जाय तो किसी भी मनुष्य को– वह कितना ही विद्वान क्यों न हो– उस वाङ्मय का कर्त्ता नहीं मानना किसी भी आस्तिक दर्शनों की वेदों के विषय में ऐसी ही श्रद्धाधिष्ठित भूमिका प्रतीत होती है। अन्यथा इन दर्शनों ने अपौरूषेयत्व एवं स्वतः प्रामाण्य के साधक तर्क उपस्थित किये होते। 'अस्मर्यमाण कर्तृकत्व' अर्थात् वेदों के कर्त्ता या रचयिता की स्मृति किसी को न होना यह एक तर्क अपौरूषेयत्व साधनार्थ मीमांसकों ने प्रस्तुत किया है। वैसे देखा जाय तो अलग अलग ऋषियों के नाम पर अलग–अलग वैदिक सूक्त ऋग्वेद संहिता के विभिन्न मंडलों में निर्दिष्ट हैं। लेकिन यदि समग्र वैदिक वाङ्मय को एकरूप मान लिया जाय तो इसका ईश्वर व्यतिरिक्त किसी को कर्त्ता नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा एक कर्त्ता ऋषि या महर्षि उपलब्ध नहीं है। भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न ऋषियों ने भिन्न भिन्न सूक्त, मंत्रादि रचे हैं और यह बात वे स्वयं अपने संबंध में कहते हैं। लेकिन इस रचना को सूक्त मंत्रादि के द्रष्टा के रूप में भी समझा जा सकता है। (जैसा कुछ ऋषि अपने को 'मंत्रद्रष्टा कहते हैं)

वैदिक वाङ्मय की उपर्युक्त नैष्ठिक स्वीकृति के बावजूद भी मीमांसा ने आपौरूषेयत्व और स्वतः प्रामाण्य संबंधी धारणाओं को एक दार्शनिक ज्ञानमीमांसीय रूप देकर एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भारतीय दर्शन में उद्भावित किया है। अब यहाँ प्रसंगतः इसी का विचार करना उचित होगा। मीमांसा के अनुसार वेद या वेदांतर्गत विधि–निषेधमूलक वाक्य ही अन्य प्रमाण निरपेक्ष स्वतंत्र शब्द प्रमाण कें प्रतीक हैं। अवैदिक बोलचाल, सामान्य संभाषण आदि में प्रयुक्त शब्द स्वतंत्र शब्द प्रमाण नहीं समझे जा सकते। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति के द्वारा उच्चारित 'न्यूयार्क में सौ मंजिलों के भी मकान होते हैं' यह एक वर्णनात्मक वाक्य है। अब जिस श्रोता ने न्यूयार्क शहर देखा नहीं है वह इस वाक्य को तब तक प्रमाण नहीं मान सकता जब तक वह न्यूयार्क शहर देख नहीं लेता। हां, यदि इस वाक्य के वक्ता पर उस

श्रोता का विश्वास हो तो वह बिना न्यूयार्क को देखे भी इस वाक्य को सत्य मान लेगा। इससे इस निष्कर्ष निकलता है कि वर्णनात्मक शब्द का प्रामाण्य प्रत्यक्ष पर या वक्ता की विश्वसनीयता के ज्ञान पर अनुमानविधया निर्भर करता है।

शब्दों के संबंध में सामान्यतः यह बात देखी जाती है कि जो तथ्य वक्ता और श्रोता दोनों को अच्छी तरह ज्ञात हो और वक्ता श्रोता की जानकारी से अवगत हो तो उस तथ्य का शब्द से प्रतिपादन करना असंबद्ध प्रलाप सा समझा जाता है। श्रोता को अज्ञात तथा उस के जानने योग्य तथ्य का वक्ता यदि प्रतिपादन करे तो वह उचित या प्रमाणभूत माना जाता है। लेकिन जो तथ्य श्रोता को अज्ञात हो उसे वक्ता के शब्दों से जानने पर भी उसकी सत्यता को ऊपर बताये मुताबिक प्रत्यक्ष या अनुमान से ही श्रोता जान सकता है। अतः शब्द को अज्ञात विषय के ज्ञापक के रूप में ही प्रमाण मानना उपयुक्त होगा। लेकिन शब्द मात्र से अज्ञात का पूर्ण रूपेण ज्ञान नहीं हो सकता। यह ऊपर दिये गये उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। यदि ऐसी बात है तो शब्द को अन्य प्रमाण निरपेक्ष प्रमाण कैसे माना जाय यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्न का उत्तर मीमांसा ने वेदापौरूषेयत्व तथा तन्मूलक वेदों का स्वतः प्रामाण्य इन स्वकल्पित सिद्धान्तों की सहायता से प्रस्तुत किया है। मीमांसा वेदांतर्गत विधि–निषेध वाक्यों को (जैसे 'अहरहः संध्यां उपासीत,' तथा 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' आदि वेदाधारित विधि–निषेध वाक्य) अकर्तृक, प्रवाहानादि, और अन्य निरपेक्ष स्वतः प्रमाण मानती है। ये वाक्य किसी मनुष्य के रचित नहीं हैं क्योंकि कोई मनुष्य किसी को भी पूर्णतया परिणाम निरपेक्ष उक्त आदेश जैसा आदेश नहीं दे सकता। यदि ऐसे आदेश का पालन न हो तो वह आदेश निरर्थक हो जायगा। वेदगत आदेश अनिवार्य तथा अनुकरणीय होते हैं क्योंकि वे भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा तथा करणापाटव जैसे दोष युक्त मनुष्यों के द्वारा आदिष्ट नहीं होते। वे स्वयंभू तथा निरपेक्ष होते हैं। मीमांसा इन विधि–निषेध वाक्यों को ही वेदों का मुख्य घटक मानती है। अन्य सभी वर्णनात्मक, प्रशंसा अथवा निन्दात्मक, सामान्य विधानात्मक तथा प्रार्थनात्मक वेदगत वाक्यों को मीमांसा, निरर्थक या 'अर्थवादरूप' (जिसका मतलब 'प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विधि–निषेधों का समर्थन करना' यह है) ठहराती है। वेदों में 'दाशराज्ञ युद्ध' जैसे ऐतिहासिक घटनाओं के वर्णन हैं। अन्य भी अनेक वर्णनात्मक मंत्र तथ सूक्त वेदों में बिखरे हुए हैं। इन सबको उलटे–सीधे अर्थ देकर उन्हें किसी प्रकार विधि–निषेध वाक्यों से जोड़ने का प्रयास

महामीमांसक कुमारिल ने अपने विशालकाय तंत्रवार्तिक नामक व्याख्यात्मक ग्रंथ में किया है। जिस किसी वेदवाक्य में काल विशेष से संबद्ध किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना का उल्लेख हो उसके अर्थ को किसी तरह बदलकर उसमें से कालविशेष निर्देश को अपसारित करने का भी कुमारिल ने बहुशः प्रयास किया है। यदि ऐसा अपसारण बिलकुल असंभव हो तो 'धाता यथापूर्वं अकल्पयत्' इस वेदाधारित वाक्य को प्रमाण मानकर प्रत्येक सृष्टि में एक जैसी ही घटनायें होती रहती हैं इस काल्पनिक सिद्धान्त के आधार पर वेदवर्णित घटनाओं को मीमांसा ने नित्य ही ठहरा दिया है।

ये बातें गलत और अतर्कसंगत होने पर भी मीमांसाशास्त्र के लिये नितांत महत्त्वपूर्ण समझे जा सकते हैं। ये वाक्य नैतिक आदेशों के प्रतीक मान लिये जायें तो इनके संबंध में मीमांसा ने जो बातें कहीं हैं वे नैतिक आदेशों के वर्णनपरक होने से मीमांसा ने नैतिक आदेशों के ही स्वरूप तथा अर्थ का विचार किया है ऐसा माना जा सकता है। 'सच बोलना चाहिये', 'किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिये' ऐसे विधि–निषेधात्मक नैतिक आदेश बोधक वाक्य निरपेक्षतः शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकार किये जायें तो शब्द प्रामाण्य के प्रश्न का सरलता से हल संभव है। इन वाक्यों को महान् अर्वाचीन पश्चिमी दार्शनिक इमानुएल कांट की कल्पना से प्रसूत 'कैटेगोरिकल इम्परेटिव' इस समानार्थक संज्ञा से सही सही निर्दिष्ट किया जा सकता है। पूर्णतया निरपेक्ष वैदिक आदेशों के उदाहरण 'ब्राह्मणेन निष्कारणेन षडंगो वेदः अध्येतव्यः ज्ञेयश्च' ऐसे वाक्य हैं। इनमें फलाकांक्षा विरहित नित्य कर्म का सुस्पष्ट विधान हुआ करता है। 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' ऐसे निषेधात्मक वाक्यों में निरपेक्ष निषेध का विधान है परन्तु निषिद्ध कर्म करना प्रत्यवाय या पाप का जनक होता है जिससे निषिद्ध कर्म को पूर्णतया निरपेक्ष कहना आनुभविक नहीं होगा। पाप का फल ऐहिक या आमुषिक दुःख यदि हो तो उसे टालने के लिये अनैतिक आचरण से मनुष्य परावृत्त हो सकता है। नित्यकर्म के आचरण के लिये किसी डर या प्रलोभन की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। कांट ने प्रलोभनविरहित स्वात्मविश्रांत कर्म को ही निरपेक्षतया आदिष्ट माना है। इस संबंध में मीमांसा और कांट की भूमिका में जो भेद है वह विचारणीय है। कांट ने कार्मिक आदेश की निरपेक्षता को भिन्न भिन्न तरीकों से प्रस्तुत किया है जिन्हें स्थूल रूप से 'मैक्सिम्स ऑफ मॉरलिटी' इस संज्ञा से निर्दिष्ट किया जाता है। निरपेक्षता का एक स्वरूप यह है कि जिस कर्म का आदेश एक व्यक्ति के लिये अनुकरणीय हो वह अन्यों को भी अनुकरणीय होना

चाहिये। जैसे सच बोलना सभी मनुष्यों के लिये सभी परिस्थितियों में एक अनिवार्य कर्त्तव्य है, भले ही उसका कोई भी इष्ट या अनिष्ट परिणाम हो। इस प्रकार की निरपेक्षता नैतिक आदेश को पूर्णतया व्यापक ठहराती है। निरपेक्षता का दूसरा स्वरूप कांट के अनुसार यह होगा कि नैतिक आदेश व्यक्ति स्वयं अपने को प्रदान करता है या आदिष्ट करता है। 'मुझे सच बोलना चाहिये,' 'मुझे अन्यों को कष्ट नहीं देना चाहिये' ऐसा स्वादिष्ट नैतिक आदेश का रूप होगा। ऐसे आदेश के पीछे ईश्वर, कोई धर्मग्रंथ, कोई मसीहा या कोई उपदेशक आदि की प्रेरणा नहीं होगी। 'मैं' विचारशील मनुष्य हूँ , अतएव मुझे 'नीति का पालन करना चाहिए' ऐसा नैतिक आदेश का स्वरूप होगा। कांट के इस विचार में आदेशात्मक शब्दों का विशेष महत्त्व नहीं है। 'मुझे सच बोलना चाहिये' ऐसा सोचकर ही आचरण करना नीतिमत्ता के लिये पर्याप्त है। इस सोच को शब्दों के द्वारा अपने को प्रभावित करने के लिये उपयोग करना आवश्यक नहीं है।

मीमांसा नैतिक आदेश बोधक शब्दों को विशेष महत्त्व देती है। ये शब्द किसी श्रेष्ठ व्यक्ति के – वह गुरू, पिता या अन्य कोई आप्त हो सकता है – द्वारा उच्चरित होने चाहिये (जैसा तैत्तिरीय उपनिषद की शिक्षा वल्ली में कहा है 'यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणी')। इसी लिये कहा गया है – 'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्यापन पूर्वकम्।' गुरू के उपदेश के अनंतर ही शिष्य वेद की अर्थात् वेदान्तर्गत विधि–निषेध वाक्यों का ज्ञान प्राप्त करता है। कोई भी स्वयं अपने को आदिष्ट नहीं करता या कर सकता। लेकिन गुरू के आदेश के पीछे भी गुरू के गुरू, उसके भी गुरू की परंपरा बनी रहती है। इससे नैतिक आदेश नित्य या प्रवाहानादि हो जाता है और वह शब्द निर्धार्य ही हुआ करता है।

16, दि एन्क्लेव मनुकाऊ
गार्डंस ऑकलैंड (न्यूजीलैंड)

प्रमाण, तर्क और अनुमान का अन्तःसम्बन्ध

सच्चिदानन्द मिश्र

सामान्य बुद्धि तथा मनुष्य की सामान्य प्रवृत्तियों का अवलोकन करने से ऐसा ही लगता है कि यदि कोई सिद्धान्त तर्कसम्मत है, तो उस सिद्धान्त के सत्य होने की सम्भावना अधिक होती है। यहाँ तक कि उस सिद्धान्त को स्वीकृति प्रदान करने का भी आधार बन जाता है। मानवीय बुद्धि के पास तर्क अपने आप में इतना शक्तिशाली शस्त्र है कि तर्क का अनादर या तिरस्कार करने का साहस करने के लिए भी तर्क का ही सहारा लेना पड़ता है। इसी कारण दार्शनिक चिन्तन में तर्क की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ तक कि अनेक बार दार्शनिक चिन्तन को तार्किक चिन्तन का पर्याय भी मान लिया जाता है। परन्तु उस तर्क के स्वरूप के बारे में, उसके उपयोग के बारे में तथा तर्क की दर्शन में भूमिका के बारे में दार्शनिकों तथा दर्शनसम्प्रदायों का परस्पर अत्यन्त मतभेद है। न केवल विभिन्न दर्शनों में तर्क के स्वरूप के विषय में मतभेद प्राप्त होता है अपितु किन्हीं दर्शनों में तो स्वयं ही विभिन्न आचार्यों के द्वारा तर्क के स्वरूप, उपयोग तथा भूमिका के विषय में अनेक विपरीत मत प्रस्तुत किये गये हैं। न्यायवैशेषिकपरम्परा में ही नव्यन्याय तथा प्राचीनन्याय में तर्क का स्वरूप एक जैसा नहीं दिखता। प्रस्तुत आलेख में मुख्यता हम न्यायवैशेषिकपरम्परा के परिप्रेक्ष्य में तथा सामान्यतया अन्य दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में भी तर्क के स्वरूप पर विचार करते हुए प्रमाण तथा अनुमान से इसके अन्तः सम्बन्ध को उद्‌घाटित करने की विवक्षा के साथ प्रवृत्त हो रहे हैं।

(1)

भारतीय परम्परा के विभिन्न दर्शनों में केवल दो दर्शन ऐसे हैं जो तर्क को प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। एक है जैन दर्शन जो कि तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मान्यता देता है और दूसरा है मध्वाचार्य का द्वैतवेदान्त जो कि तर्क को अनुमान में अन्तर्भूत करता है। अन्य दर्शनों में यह एक अद्‌भुत साम्य है कि उनमें से कोई भी तर्क को प्रमाण नहीं मानता, परन्तु विभिन्न दर्शनसम्प्रदाय ज्ञान की प्रक्रिया में तर्क की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हैं।

न्यायसूत्र में प्रमाणों का परिगणन करते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द इस प्रकार से चार प्रमाणों को स्वीकृति दी गयी है। इनमें अनुमान का परिगणन तो है परन्तु तर्क का नहीं है। यह सम्भावना हो सकती थी कि सम्भव है न्यायसूत्रकार अनुमान में ही तर्क को भी अन्तर्भूत करना चाहते रहे हों। परन्तु इस सम्भावना को न्यायसूत्रकार गौतम स्वयं ही खारिज कर देते हैं क्योंकि तर्क का प्रमाण में अन्तर्भाव न करते हुए सोलह तत्त्वों में प्रमाण से अतिरिक्त तत्त्व के रूप में तर्क को भी वे गिनते हैं। इस कारण इतना तो साफ है कि तर्क प्रमाण नहीं है तथा अनुमान से अतिरिक्त है। इस विषय में सबसे मूलभूत प्रश्न यह है कि तर्क को प्रमाण से अतिरिक्त मानने का आधार क्या है ? उससे भी महत्त्वपूर्ण तथा आगे का प्रश्न यह है कि तर्क अनुमान से अलग क्यों हैं? सामान्य लौकिक व्यवहार के अनुसार तो तर्क तथा अनुमान दोनों को हम प्रायशः पर्याय के रूप में लेते तथा समझते हैं। प्रमाण का जैसा स्वरूप सामने आता है, उसके अनुसार ज्ञानप्राप्ति के वही साधन प्रमाण माने जा सकते हैं जो हमें किसी नवीन तथ्य के बारे में ज्ञान प्राप्त कराते हैं। हालाँकि न्यायवैशेषिकपरम्परा के विद्वान् इस नवीनता अर्थात् अगृहीतग्राहिता को प्रमा के लक्षण में अन्तर्भूत नहीं करते, परन्तु स्मृति को प्रमा न मानने का उनका जो पक्ष है, उसके आधार पर न्यायवैशेषिकपरम्परा के अनुसार भी नवीन तथ्य के बारे में ज्ञान प्राप्त करानेवाले साधन ही प्रमाण कहलाने के वास्तविक हकदार सिद्ध होते हैं। इस कारण तर्क को प्रमाण नहीं मानने के कारण यही सम्भावना सामने आती है कि या तो तर्क किसी भी तथ्य के बारे में वह जानकारी नहीं प्रदान करता और यदि करता है तो किसी नवीन तथ्य के बारे में जानकारी नहीं प्रदान करता, इसी कारण उसको प्रमाण नहीं माना गया होगा, इसके विपरीत अनुमान नवीन तथ्य के विषय में जानकारी प्रदान करता है। तर्क को प्रमाण न मानने तथा अनुमान को प्रमाण मानने का आधार कोई दूसरा भी होगा, इसकी सम्भावना नहीं दिखायी देती।

अनुमान की प्रक्रिया में व्याप्तिविशिष्ट हेतु के पक्षवृत्तित्वज्ञान से साध्य का ज्ञान कर लिया जाता है। यदि किसी हेतु में व्याप्ति है तथा वह हेतु पक्ष में विद्यमान है तो हम साध्य का ज्ञान कर पाने में सफल होते हैं, अन्यथा नहीं। इसी कारण न्यायसूत्रकार ने अनुमान की परिभाषा प्रत्यक्षपूर्वक कहकर दी है।[1] इसी प्रत्यक्षपूर्वक शब्द का ही अर्थ विभिन्न प्रकार से करते हुए व्याप्तिज्ञानपूर्वक या व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानपूर्वक इत्यादि अर्थ व्याख्याकारों के द्वारा सामने लाया जाता है।

तर्क की परिभाषा करते हुए न्यायसूत्रकार गौतम कहते हैं कि 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः'[2] जिस समय किसी अर्थ का तत्त्व अविज्ञात है, उस परिस्थिति में कारण की उपपत्ति से उस अर्थ के तत्त्वज्ञान के लिए की जाने वाली ऊहा को तर्क कहा जाता है। न्यायसूत्रकार गौतम की बात को सीधे सीधे लें तो 'ऊहा ही तर्क है'। सूत्र में निर्दिष्ट 'किसी अर्थ के तत्त्व के अविज्ञात होने पर' पर्यन्त अंश मात्र स्पष्टीकरण के लिए है। परिभाषा तो वस्तुतः शेष अंश ही है कि कारण की उपपत्ति से तत्त्वज्ञान के लिए की जाने वाली ऊहा ही तर्क है। परन्तु यह परिभाषा काफी हद तक शाब्दिक परिभाषा हो जाती है, इस कारण हर शाब्दिक परिभाषा की तरह इस परिभाषा के साथ भी कुछ मुश्किलें खड़ी होती हैं। प्रश्न होता है कि ऊहा क्या है? ऊहा शब्द ऊह् धातु से बनता है। ऊह् धातु का अर्थ है वितर्क करना। धातुपाठ में पाणिनि पढ़ते हैं 'ऊह् वितर्के'। अब प्रश्न होगा कि वितर्क क्या है ? क्या तर्क ही तो वितर्क नहीं है ? व्यवहार में हम इसको मुहावरे की तरह प्रयोग करते हैं कि तर्क–वितर्क कर रहे हैं। वितर्क करने का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि किसी विषय के विभिन्न पक्षों को प्रस्तावित कर उनके विषय में विचार करना। क्या ऐसा तो नहीं है या इसके विपरीत तो नहीं ? इस प्रकार कहा जा सकता है कि ऊहा एक मानसी प्रक्रिया है। मन के द्वारा सम्पादित की जाने वाली एक ऐसी प्रक्रिया को ऊहा कहा जाता है जो कि हमारी इच्छा के द्वारा जन्म लेती है। इस प्रक्रिया में विभिन्न पक्षों को उपस्थापित कर कारणों की उपपत्ति से उनके विषय में ऊहा की जाती है। वात्स्यायन दो स्थानों पर तर्क के विषय में विवेचन करते हैं। प्रथमतः तो प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए इस प्रश्न पर कि प्रमाण तथा प्रमेय से अतिरिक्त रूप में संशय, प्रयोजन, तर्क इत्यादि के परिगणन का औचित्य क्या है ?' विवेचन करते हुए तर्क के अतिरिक्त परिगणन के औचित्य पर विचार करते हैं। इस स्थल पर तर्क के स्वरूप तथा उसकी भूमिका पर पक्ष रखते है। दूसरा तर्कलक्षणसूत्र पर विचार करते हुए इस बिन्दु पर चर्चा करते हैं। न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र की व्याख्या करने के अवसर पर सुस्पष्ट रूप से निर्णय देते हुए बताते हैं कि तर्क न तो प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों में से किसी में संगृहीत होता है और न तो इन प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण ही है किन्तु प्रमाणों का अनुग्राहक होता हुआ तत्त्वज्ञान में उपयोगी होता है।[3] किस प्रकार प्रमाण न होकर भी तर्क तत्त्वज्ञान के लिए उपयोगी हो सकता है, इसकी पूरी प्रक्रिया वात्स्यायन बताते हैं। वात्स्यायन

द्वारा प्रतिपादित प्रक्रिया को उनके द्वारा लिए गये उदाहरण को समक्ष रखकर समझना समुचित तथा आसन होगा। इस जन्म का कारण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर तीन प्रकार से दिया जा सकता है कि जन्म कृतक कारण (उत्पन्न होने वाले कारण) से सम्पन्न होता है, यह जन्म अकृतक कारण (उत्पन्न न होने वाले कारण) से सम्पन्न होता है अथवा बिना किसी कारण के ही आकस्मिक होता है। इन तीन पक्षों में कौन सा पक्ष स्वीकार्य हो सकता है ? इसमें कारण की उपपत्ति से ऊहा प्रवृत्त होती है कि यदि जन्म कृतक कारण (उत्पन्न होने वाले कारण) से सम्पन्न होता होता हो तो कारण का उच्छेद हो जाने पर जन्म का भी उच्छेद संभव है। जन्म के उच्छेद का तात्पर्य जन्मपरम्परा के उच्छेद से है। यदि यह जन्म किसी अकृतक कारण (उत्पन्न न होने वाले कारण) से सम्पन्न होता हो तो अकृतक कारण (उत्पन्न न होने वाले कारण) का उच्छेद सम्भव न होने के कारण जन्म का उच्छेद भी संभव नहीं होगा। कारण के उच्छेद से ही कार्य का उच्छेद संभव होता है, यह कारण की उपपत्ति है। यदि इस अवधारणा को प्राथमिक रूप से ही अस्वीकार कर दिया जाये तो उन वितर्कों के लिए अवसर ही नहीं बनेगा। यदि जन्म बिना किसी कारण के हुआ है तो उस जन्म के उच्छेद का कोई कारण तो बनता नहीं है, यदि जन्म का ही कोई कारण नहीं है, तो किसके निवृत्त होने से जन्म की निवृत्ति होगी ? इस कारण निवृत्ति का कोई भी कारण नहीं बनता, इस कारण जन्म का उच्छेद इस पक्ष में किसी भी प्रकार से संभव नहीं होगा। इस प्रकार विभिन्न पक्षों के उपस्थित होने पर जन्म का निमित्त हमारे कर्म हैं, इस प्रकार से प्रवर्तमान प्रमाण तर्क से अनुगृहीत होते हैं। तत्त्वज्ञान के विषय का विभाग कर देने के कारण तर्क प्रमाण का अनुग्राहक होता है तथा इसी कारण तत्त्वज्ञान के लिए उपयोगी होता है।[4] हम देख चुके हैं कि ऊपर प्रस्तावित तीन पक्षों में से तर्क दो का व्यावर्तन कर देता है, केवल प्रथम पक्ष का व्यावर्तन नहीं करता। इस प्रकार तर्क की भूमिका उसी प्रकार से है जैसे काँटों को हटा देना। इसी कारण तर्क प्रमाण नहीं है।

समान रीति से तर्कलक्षणसूत्र के विवेचन के अवसर पर वात्स्यायन व्याख्या करते हैं। परन्तु उदाहरण दूसरा लेते हैं। उदाहरण यह है कि यह जो ज्ञाता ज्ञातव्य अर्थ को जानता है, उस ज्ञाता को जाना जाये, ऐसी जिज्ञासा है। उस ज्ञाता के बारे में जिज्ञासा है कि क्या यह ज्ञाता उत्पन्न होने वाला है या उत्पन्न न होनेवाला है ? यह जिज्ञासा वस्तुतः संशयरूप है। अब इस प्रकार से संशय की स्थिति में जिस धर्म को स्वीकार करने का कारण

उपलब्ध होता है, उसको स्वीकार करना उचित है, तथा जिस धर्म को स्वीकार करने का कारण नहीं दिखता उसको अस्वीकार करना। इस कार्य इस प्रकार संभव होता है– यदि ज्ञाता उत्पन्न न होने वाला है, तब तो 'अपने किये हुए कर्म का फल यह ज्ञाता भोगता है' यह स्वीकृति संभव है क्योंकि यदि ज्ञाता उत्पन्न होनेवाला होगा तो निश्चय ही विनष्ट होगा। यदि इस स्थिति में यदि किसी कर्म का फल इस जन्म में नहीं प्राप्त हुआ तो उन कर्मों का फल नहीं ही प्राप्त होता है, ऐसा मानना पड़ेगा क्योंकि इस जन्म में तो उसके किये हुए समस्त कर्मों का फल प्राप्त हो पाना किसी भी प्रकार से संभव नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण ही इसका विरोध करता है कि हमारे समस्त कर्मों का फल इस जन्म में प्राप्त हो जाता है इस कारण यही मानना पड़ेगा कि ज्ञाता को अपने किये हुए कर्मो का फल नहीं प्राप्त होता। यदि यह माना जाये कि ज्ञाता उत्पन्न न होनेवाला है तब तो उसके समस्त कर्मों का फल उसको प्राप्त होता है, इसको स्वीकार कर पाना संभव होगा क्योंकि जिन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिलता अगले जन्म में प्राप्त हो जायेगा। उस स्थिति में ज्ञाता के अनुत्पन्न होने पर तो दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्याज्ञानों में उत्तरोत्तर की निवृत्ति होकर पूर्व–पूर्व की निवृत्ति के क्रम से संसार तथा अपवर्ग दोनों ही संभव हैं। परन्तु यदि ज्ञाता उत्पन्न होनेवाला है तो उसके कर्मों का फल प्राप्त होने की कोई संभावना नहीं है, क्योंकि उत्पन्न ज्ञाता देह, इन्द्रिय, मन आदि के द्वारा संबंद्ध होगा। इसी कारण उसको जो सुख–दुख आदि का अनुभव होगा, वह सुख–दुःख आदि का अनुभव भी किसी पूर्व कर्म का फल नहीं हो सकता। इसी प्रकार चूँकि उत्पन्न होने के बाद विनष्ट होने पर फिर से उत्पन्न नहीं होगा। तो जब वह अविद्यमान है या निरुद्ध (विनष्ट) है तो उसको उसके द्वारा किये गये किसी कर्म का फल भविष्यकाल में भी नहीं प्राप्त हो सकेगा। इस कारण इसको अनेक शरीर का योग तथा अनेक शरीरों से वियोग संभव नहीं होगा। इस कारण पुनर्जन्म आदि की संभावना भी नहीं रहेगी। इस प्रकार इन दो पक्षों में से ज्ञाता के उत्पन्न होने के पक्ष में कारण को अनुपपन्न देखता है, इस कारण उसको स्वीकृति नहीं प्रदान किया जा सकता। ज्ञाता के अनुत्पन्न होने के पक्ष में कारण का उपपन्न होना देखा जा सकता है, इस कारण उसको अनुज्ञा प्रदान की जाती है। इस प्रकार से की जानेवाली जो ऊहा है, उस ऊहा को ही तर्क कहा जाता है।[5] परन्तु प्रश्न तो यह भी है कि यह ऊहा तत्त्वज्ञान के लिए ऐसा क्यों कहना ? तत्त्वज्ञान ही क्यों नहीं है? इसका

समाधान वात्स्यायन देते हैं कि यह तर्क या ऊहा चूँकि अनवधारणात्मक होती है, यह ऊहा निर्णयात्मक नहीं है किन्तु केवल अनुज्ञात्मक है। तर्क हमको इस प्रकार के निर्णय तक नहीं पहुँचाता कि यह ऐसा ही है। तत्त्वज्ञान के विषय की अभ्यनुज्ञात्मक ऊहा के द्वारा भावित प्रमाण से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। इसी कारण तर्क को तत्त्वज्ञान के लिए कहा गया। प्रमाण तो सीधे–सीधे तत्त्वज्ञान को उत्पादित करता है, परन्तु ऊहा प्रमाण के समान तत्त्वज्ञान को उत्पादित नहीं करता, बल्कि तत्त्वज्ञान को उत्पादित करने में प्रमाण की सिर्फ सहायता करता है। स्वयं तत्त्वज्ञान को न उत्पादित करने के कारण ही तर्क प्रमाण नहीं है।

न्यायवार्तिककार उद्योतकर तर्क के लक्षण में आये हुए 'कारणोपपत्ति' शब्द का वात्स्यायन से भिन्न अर्थ करते हैं। इसका अर्थ उद्योतकर प्रमाणोपपत्ति करते हैं, जो कि न्यायसूत्रकार तथा न्यायभाष्यकार के आशय से अलग है। उपपत्ति का अर्थ है संभाव्यता। इस अर्थ में प्रमाण संभव है, इस कारण यह अर्थ ऐसा हो सकता है। इस प्रकार से किसी एक पक्ष की संभाव्यता को तर्क द्योतित करता है।[6] किसी पक्ष को तर्क अवधारित नहीं करता। इस प्रकार उद्योतकर में तर्क के स्वरूप के विषय में वात्स्यायन से एक साफ–साफ विचलन दिखता है।

उद्योतकर ने 'तर्क का प्रमाण से क्या अंतर है' इसको स्पष्ट करते हुए कहा कि प्रमाण विषय का परिच्छेदक होता है परन्तु तर्क विषय का परिच्छेदक नहीं होता।[7] विषय का परिच्छेदन करने का तात्पर्य विषय का निश्चायन करने से है। इस प्रकार प्रमाण तथा तर्क में जो मूलभूत अंतर सामने आता है वह यह कि प्रमाण तो विषय का निश्चय कराता है परन्तु तर्क विषय का निश्चय नहीं कराता। तर्क प्रमाण का केवल अनुग्राहक हो सकता है। परन्तु कैसे ? उद्योतकर इसको और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि तर्क प्रमाण के विषय का विभाग करता हुआ प्रमाण का अनुग्राहक होता है। परन्तु प्रमाण के विषय का विभाजन करने का तात्पर्य क्या है और किस प्रकार यह उसकी युक्तता तथा अयुक्तता के विचार से संबंधित है। जो युक्त दिखता है, उसको तर्क अभ्यनुज्ञा प्रदान करता है, परन्तु उसको निश्चायित नहीं करता। इसी कारण प्रमाण नहीं है। प्रमाण होने के लिए आवश्यक है कि वह अर्थ का निश्चायक हो। जो अर्थ का निश्चायन नहीं करायेगा उसको प्रमाण नहीं कहा जा सकता। उसके अवधारणात्मक न होने के कारण ही उसको प्रमाण नहीं कहा जाता है।[8] तर्क का प्रमाण तथा अनुमान से क्या

अंतर है ? कोई अंतर है भी या नहीं, इस प्रश्न पर उद्योतकर अत्यंत गंभीरता से विचार करते हैं। उद्योतकर ने जिस प्रकार से तर्क का स्वरूप स्पष्ट किया था उससे तर्क संभावनारूप है, यह बात सामने आती है। इस कारण तर्क के संशयात्मक होने की भी आपत्ति आती है। इस पर भी उद्योतकर विचार करते हैं। इस विषय में जो विभिन्न पक्ष हैं उनकी आलोचना करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि तर्क किस प्रकार से अपनी स्वतंत्र स्थिति रखता है।

एक पक्ष यह है कि यह ऊहारूपी तर्क या तो संशय हो सकता है और या तो निश्चय हो सकता है।[9] इसका कारण यह है कि सामान्यतया ज्ञान के इन्हीं दो विभागों के बारे में मान्यता दी जाती है। उत्पन्न होता हुआ ज्ञान या तो निश्चयात्मक होगा या तो संशयात्मक। तीसरा विभाग तो संभव नहीं दिखता। इस कारण यदि यह संशयात्मक है तो संशय का परिगणन सोलह तत्त्वों में होने के कारण उसी में यह भी परिगणित हो गया, अलग से परिगणन करने की आवश्यकता नहीं है। यदि निश्चयात्मक है, तब भी निर्णय का परिगणन सोलह तत्त्वों में होने के कारण उसी में यह भी परिगणित हो गया, अलग से परिगणन करने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरा पक्ष यह है कि अनुमान ही तर्क है।[10] अनुमान तथा तर्क में कोई भेद नहीं है। हमारे अनेक व्यवहार अनुमान तथा तर्क शब्द को पर्याय के रूप में स्वीकार करते हुए हुआ करते हैं। विभिन्न कोशों में भी अनेक स्थलों पर तर्क तथा अनुमान का पर्याय के रूप में प्रयोग प्राप्त होता है। माध्वसम्प्रदाय भी तर्क को अनुमान का एक प्रभेद ही स्वीकार करता है। इस पक्ष को यहाँ देखना प्रासंगिक होगा। आनन्द तीर्थ प्रमाण का लक्षण करते हैं – 'निर्दोषोपपत्तिरनुमानम्'[11] अर्थात् निर्दोष उपपत्ति को अनुमान कहा जाता है। उपपत्ति का तात्पर्य हेतु से है, इस प्रकार निर्दोष हेतु को अनुमान प्रमाण कहा जाता है। दोष का तात्पर्य व्याप्ति आदि (अनुमान के लक्षण) से रहित होना ही है। इस प्रकार जो हेतु व्याप्ति आदि अनुमान के लक्षण से रहित न हो उसको निर्दोषोपपत्ति कहा जायेगा, तथा इस कारण उसको अनुमान कहेंगे। तर्क के विषय में आनन्द तीर्थ तथा उनकी व्याख्या करते हुए जयतीर्थ स्पष्ट करते हैं कि तर्क भी अनुमान का ही एक प्रकार है। इसी कारण तर्क के प्रमाण होने पर भी अनुप्रमाणों के त्रिविधत्व की क्षति नहीं होती। ध्येय है कि जिसको अन्य दार्शनिक प्रमाण कहते हैं उसको माध्व अनुप्रमाण शब्द के द्वारा अभिहित करते हैं। उनके मत में अनुप्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम इस प्रकार से तीन प्रकार के होते हैं। तर्क की परिभाषा जयतीर्थ देते हैं कि व्याप्य

का अंगीकार कर लेने से व्यापक अनिष्ट का प्रसंग करना ही तर्क है। अनिष्ट दो ही प्रकार के हो सकते हैं – प्रामाणिक की हानि तथा अप्रमाणिक का स्वीकार।[12] जयतीर्थ इसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं – जैसे 'यदि ईश्वर जीवाभिन्न होता तो दुःखी होता' 'यदि ईश्वर सर्वज्ञ न होता तो जगत्कर्ता न होता'। इन तर्कों के द्वारा क्रमशः ईश्वर का जीवभिन्नत्व तथा ईश्वर का सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है। और ये दोनों अनुमान के ही प्रभेद हैं। स्पष्ट ही दिखता है कि नैयायिक जिस प्रकार से पक्ष, साध्य तथा हेतु के प्रदर्शन के माध्यम से अनुमान करते हैं, उससे अतिरिक्त रीति से अनुमान की प्रक्रिया तर्क के स्थल में माननी आवश्यक दिखती है।

तीसरा पक्ष यह है कि युक्ति की अपेक्षा करने वाला अनुमान ही तर्क है।[13] तर्क को अतिरिक्त तत्त्व न मानने वालों के ये तीन पक्ष हो सकते हैं।

इन तीनों पक्षों का उद्योतकर क्रमशः खण्डन करते हैं। प्रथम पक्ष का खण्डन करने के लिए उद्योतकर कहते हैं कि जो लोग तर्क को संशय या निर्णय में अन्तर्भूत करना चाहते हैं, उन्होंने ज्ञान के स्वरूप को समझा नहीं नहीं।[14] जिस अर्थ का तत्त्व अविज्ञात होता है, उसके विषय में ऊहा होता है, ऐसा कहने का आशय यह नहीं है कि ऊहा या तर्क संशयात्मक है। अवधेय है कि संशय भी उसी के बारे में होता है जिस अर्थ का तत्त्व विज्ञात नहीं होता। परन्तु संशय, निश्चय तथा तर्क में एक मूलभूत अन्तर है। इसके विपरीत अवधारणात्मक 'क्या है ?' इस प्रकार का जिज्ञासा–जनक प्रत्यय संशय कहलाता है। इसके विपरीत अवधारणात्मक 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार का प्रत्यय निर्णय कहलाता है। यह ऊहात्मक प्रत्यय संशय नहीं है क्योंकि इसमें कारणोपपत्ति है, इसमें कारण की उपपत्ति है कि इस कारण से यह ऐसा नहीं हो सकता। संशय में कारण की उपपत्ति नहीं होती, इस कारण तर्क संशयात्मक नहीं हो सकता। निर्णयात्मक भी नहीं, क्योंकि विशेष का दर्शन नहीं होता। इसमें किसी विशेष को आप नहीं देख पाते। किसी एक पक्ष का पूरा–पूरा निर्धारण तर्क के द्वारा नहीं होता। यदि विशेषदर्शन होता तो इसको प्रमाण कहा जा सकता था। इस कारण यह निश्चित है कि यह तर्क न तो संशय है और न तो निर्णय।[15]

ऊपर प्रदर्शित युक्ति के आधार पर ही – 'तर्क में विशेषदर्शन नहीं होता, प्रमाण में तो विशेषदर्शन होता है' – इस आशंका का भी समाधान हो जाता है कि तर्क अनुमान नहीं है क्योंकि अनुमान तो प्रमाण है, इस कारण वह विशेषावधारणात्मक होता है परन्तु तर्क विशेषावधारणात्मक नहीं होता।[16]

इस प्रसंग में यह भी देखना रोचक होगा कि न्यायवार्तिककार की युक्तियाँ क्या आनन्दतीर्थ तथा जयतीर्थ द्वारा प्रस्तावित युक्तियों का खण्डन करने में सक्षम हैं ? जयतीर्थ ने यह न्यायपक्ष उपस्थापित किया है कि तर्क प्रमाण नहीं है क्योंकि तर्क के द्वारा जो आपाद्य होता है वह प्रमाण से बाधित होता है। हम जानते हैं कि तर्क के द्वारा प्रामाणिकहानि तथा अप्रामाणिकस्वीकृति का आपादन किया जाता है। इस कारण निश्चय ही प्रमाण से सिद्ध अर्थ का विरोध तर्क करता है। जैसे जब हम तर्क करते हैं कि 'यदि ईश्वर जीवाभिन्न होता तो दुःखी होता' तो इस तर्क के द्वारा ईश्वर का दुःखी होना आपादित करते हैं, परन्तु ईश्वर का दुःखी होना प्रमाण से बाधित है। इसी प्रकार जब हम 'यदि ईश्वर सर्वज्ञ न होता तो जगत्कर्ता न होता' इस प्रकार से तर्क करते हैं, तो इस तर्क के द्वारा ईश्वर का जगत्कर्ता न होना आपादित करते हैं जो कि प्रमाण से बाधित है। इस कारण प्रमाणबाधित का साधन करने के कारण अपसिद्धान्त होगा। दूसरी बात है कि प्रमाण से विरोध होगा, तथा हेतु जिसको बनाते हैं वह तो स्वयं ही सिद्ध नहीं होता। जिस आधार पर तर्क किया जाता है, वह तो स्वयं ही असिद्ध होता है। जैसे 'यदि ईश्वर जीवाभिन्न होता तो दुःखी होता' इस प्रकार से तर्क का अवतरण करने पर ईश्वर का जीवाभिन्नत्व ही तो व्याप्य है, जिसके आधार ईश्वर का दुःखी होना आपादित किया जा रहा है, वह ईश्वर का जीवाभिन्नत्व तो स्वयं असिद्ध है। हम जानते हैं कि असिद्ध हेतु अनुमापक नहीं होता। तर्क की प्रक्रिया में जब हेतु ही असिद्ध है तो उसको अनुमान किस प्रकार से माना जा सकता है ? इस आक्षेप का समाधान जयतीर्थ देते हैं कि इसी कारण तो तर्क को दूषणानुमान माना जाता है। वे स्पष्ट करते हैं कि अनुमान दो प्रकार का होता है, स्वपक्षसाधन तथा परपक्षदूषण। तर्क के द्वारा स्वपक्ष–साधन नहीं किया जाता, अपितु परपक्षदूषण किया जाता है।[17] जयतीर्थ उदाहरण भी देते हैं कि जैसे पर्वत वह्निमान् है, धूमवान् होने के कारण, इस प्रकार का अनुमान प्रथम कोटि का अनुमान है, स्वपक्षसाधन के लिए प्रवृत्त होता है। परपक्षदूषणात्मक अनुमान दो प्रकार से प्रयुक्त होता है, जैसे इसी स्थल में अनुमान किया जा सकता है 'पर्वत निरग्निक नहीं है, निर्धूम न होने के कारण। दूसरा अनुमान इसी स्थल में प्रयुक्त होता है अनिष्टप्रसंगात्मक तर्क के रूप में .. पर्वत को निरग्निक मानोगे तो उसको निर्धूम मानना पड़ेगा। ये दोनों अनुमान परपक्षदूषणार्थ प्रयुक्त हैं। इसी दूषणानुमान में तर्क का भी अन्तर्भाव होता है।[18] जयतीर्थ के इस स्पष्टीकरण को देखते हुए यह बात तो

सुस्पष्ट है कि तर्क को अनुमान मानने का आग्रह रखते हुए भी जयतीर्थ यह दिखा पाने में समर्थ नहीं हैं कि तर्क उसी प्रकार का अनुमान है, जैसा कि पर्वतादि में अग्नि आदि को सिद्ध करनेवाला अनुमान। परन्तु यह एक भिन्न प्रकार का अनुमान है, जिसमें कि दूषण का अनुमान किया जाता है। पर्वतादि में अग्नि आदि को सिद्ध करने वाले अनुमान के समान एक अनुमान प्रस्तुत अवश्य किया है जयतीर्थ ने, परन्तु उस प्रकार का अनुमान अनुभवगम्य है, इस विषय में मुझे सन्देह है। 'पर्वत निरग्निक नहीं है, निर्धूम न होने के कारण इस प्रकार का अनुमान वस्तुतः स्वपक्षसाधनात्मक अनुमान है। वह्नि की सिद्धि ही पर्वत में यह अनुमान करता है, परन्तु वह्न्यभाव के अभाव के रूप में। इस कारण जयतीर्थ का पक्ष संगत नहीं दिखता। निश्चय ही तर्क की प्रक्रिया में अनुमान की प्रक्रिया की अपेक्षा एक विभेद है, उस विभेद को तिरस्कृत नहीं किया जा सकता। दूषणानुमान की जो बात जयतीर्थ करते हैं, उसका न्यायवार्तिककार के मत से बहुत विरोध नहीं है। न्यायभाष्यकार तथा वार्तिककार ने भी यही बात कही है कि तर्क विपरीत पक्ष का निराकरण करता हुआ प्रथम पक्ष में प्रवृत्त प्रमाण को अनुगृहीत करता है। यही बात तो माध्वमतानुसार भी सामने आ रही है। इस कारण तर्क को अनुमान मानने का पक्ष संगत नहीं दिखता।

तीसरा जो पक्ष था कि युक्त्यपेक्ष अनुमान को तर्क कहा जाता है, उसकी आलोचना करते हुए उद्योतकर कहते हैं कि जो दार्शनिक ऐसा मानते हैं, उन्होंने भी तर्क का अनुमान से भेद स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है तथा स्वीकार कर लिया है क्योंकि युक्ति का तात्पर्य क्या है ? युक्ति का तात्पर्य प्रमाण की उपपत्ति से ही है। उस प्रमाण की उपपत्ति की अपेक्षा करने वाला जो प्रत्यय है उसी को तर्क कहा जाता है, यह अभिमत सामने आता है। इस पक्ष के साथ तो हमारा कोई मतभेद नहीं है क्योंकि इस प्रकार से तो केवल नाम का अन्तर है। हम भी तो यही कहते हैं कि तर्क कारणोपपत्ति की अपेक्षा करता है। कारणोपपत्ति का अर्थ प्रमाणोपपत्ति है, यह उद्योतकर का तात्पर्य है। यदि आप यह कहते हैं कि युक्ति का तात्पर्य प्रमाणोपपत्ति नहीं है, युक्ति की अपेक्षा करने वाला जो अनुमान है वही तर्क है। तो सवाल यह आयेगा कि अनुमान युक्ति की अपेक्षा किसलिए करेगा ? अपने विषय का परिच्छेदन करने के लिए तो निश्चय ही अनुमान युक्ति की अपेक्षा नहीं करेगा। यदि आप कहो कि अन्य प्रमाण की अपेक्षा ही युक्ति है, तो भी यह सवाल तो बनेगा ही कि अन्य प्रमाणों के द्वारा अनुमान क्या अनुग्रह किया जा सकता

है। ज्यादा से ज्यादा प्रत्यक्ष या आगम के द्वारा अनुमान प्रमाण पर कृपा करने की बात की जा सकती है। परन्तु अनुमान के द्वारा अपने विषय का परिच्छेदन करने में प्रत्यक्ष या आगम के द्वारा किसी अनुग्रह की अपेक्षा अनुमान प्रमाण को नहीं है। इस कारण अपने विषय के परिच्छेदनार्थ किसी अनुग्रह की बात नहीं की जा सकती। यदि कहें कि प्रत्यक्ष तथा शब्द प्रमाण के विषय से अतिरिक्त विषय अनुमानप्रमाण का नहीं होता, यही प्रत्यक्ष या आगम प्रमाण की अनुमान को अपेक्षा है तो इसमें भी आपको कोई न कोई तर्क बताना पड़ेगा। इस कारण यह तय है कि अनुमान को युक्ति की अपेक्षा नहीं होती। तर्क को अवश्य युक्ति की अपेक्षा हो सकती है। इस कारण तर्क अनुमान से अतिरिक्त है।[19]

यह पक्ष रखा जा सकता है कि तर्क अनुमान है – लिंग तथा लिंगी के संबंध की स्मृति की अपेक्षा करने के कारण, अनुमान की तरह। परन्तु यदि कोई इस प्रकार के अनुमान के द्वारा तर्क को अनुमान सिद्ध करना चाहता है तो वह वस्तुतः तर्क के स्वरूप को जानता ही नहीं। बिना तर्क के स्वरूप को जाने ही इस प्रकार की आपत्ति उठायी जा सकती है। तर्क लिंग तथा लिंगी के संबंध की स्मृति की अपेक्षा बिल्कुल ही नहीं करता। जहाँ पर लिंग तथा धर्मी दोनों ही ज्ञात होते हैं, वहाँ पर अनुमान प्रमाण प्रवृत्त होता है, जैसे पर्वत तथा धूम दोनों के प्रत्यक्ष होने पर वह्नि का अनुमान का होता है। परन्तु जहाँ लिंग तथा धर्मी दोनों में से केवल धर्मी ज्ञात होता हो, किन्तु धर्मी से अतिरिक्त में भी धर्म के ज्ञान से तर्क प्रवृत्त होता है। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि तर्क लिंग तथा लिंगी के संबंध की स्मृति की अपेक्षा किये उत्पन्न नहीं हो सकता, वहीं तर्क बिना लिंग तथा लिंगी के संबंध की स्मृति की अपेक्षा किये ही उत्पन्न होता है।[20]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि उद्योतकर उस समस्या को अधिक गहराई से उठाने का प्रयास करते हैं। वात्स्यायन ने कहा था कि जन्म कर्मनिमित्तक है और इस विषय में प्रवृत्त प्रमाण तर्क के द्वारा अनुगृहीत होते हैं। परन्तु वात्स्यायन ने यह नहीं बताया कि जन्म कर्मनिमित्तक है, यह किस प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है। इसको पूरा करते हुए उद्योतकर इस विषय में अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, जन्म कर्मनिमित्तक है क्योंकि भेद दिखायी देता है[21]। सुगति तथा दुर्गति ही भेद है। सभी जन एक जैसे नहीं दिखायी देते। सुगति को प्राप्त हैं मनुष्य तथा देवता। मनुष्यों में भी विभिन्न स्तरों का भेद दिख रहा है। अनेक लोग विकलांग तथा अनेक सकलांग दिखते हैं।

अनेक जन्म से अमीर तथा अनेक जन्म से गरीब दिखते हैं। स्वतंत्र तथा परतंत्र इत्यादि भेद से तथा अन्य प्रकारों से भी भिन्न–भिन्न प्रकार के लोग दिखते हैं। इसी प्रकार दुर्गति को प्राप्त हैं – नरक में अवस्थित तथा पशुओं की योनि में अवस्थित जन। नारकीय प्राणियों में भी विभिन्न वृक्षादि की योनियाँ हैं। पशुओं में भी गाय तथा उनसे अन्य भी योनियाँ। इस प्रकार की विभिन्नता का कोई न कोई कारण होना ही चाहिए। पृथिवी आदि जिनके द्वारा शरीरादि की उत्पत्ति होती है, वे कारण तो सबमें समान हैं। इस समान कारण के द्वारा कोई भी भेद उत्पन्न नहीं हो सकता। इस भेद का कोई न कोई वस्तुनिष्ठ कारण होना चाहिए। इस कारण कर्म ही नियामक है।[22] उद्योतकर के इस कथन को तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र तथा उदयनाचार्य दोनों ही अपनी सम्मति प्रदान करते हैं।

वाचस्पति मिश्र थोड़ा और आगे जाकर यह भी कहते हैं कि केवल अनुमान की ही सहायता तर्क करता हो, ऐसा नहीं, अपितु तर्क प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की भी सहायता करना है। वे कहते हैं कि तत्त्वावधारण के लिए प्रवृत्त प्रमाण 'करण के रूप में उस प्रमाण को क्या करना है' इसकी अपेक्षा करता है। तर्क प्रमाण के विषय की युक्तता तथा अयुक्तता का विचाररूप है, इस प्रकार प्रमाण के विषय की युक्तता तथा अयुक्तता का विचार करता हुआ प्रमाण के युक्त अर्थ में प्रवृत्त होने पर उस अर्थ को अनुज्ञा प्रदान करता है। उस तर्क के द्वारा अनुगृहीत प्रमाण तत्त्वनिर्णय करने में सफल होता है।[23] तर्क निश्चायक नहीं होता, यह बात अन्य विद्वानों ने भी कहीं है। वाचस्पति मिश्र यह निश्चायक क्यों नहीं होता? ऐसा प्रश्न पूछते हैं। इस प्रश्न का समाधन यह देते हैं कि तर्क प्रसंगात्मक होता है, इस कारण निश्चयात्मक नहीं होता। प्रसंगात्मक होने का तात्पर्य है आरोपात्मक होना है। तर्क करते समय हम कहते हैं कि 'यदि ऐसा होता तो ऐसा होता' प्रसंग शर्त के साथ होता है, इसी कारण निश्चयात्मक नहीं होता। प्रसंग परतन्त्र है स्वयं साधक नहीं है। जैसे अभाव का प्रत्यक्ष करने में तर्क सहायता करता है। भूतल पर घट के अभाव का प्रत्यक्ष करने के क्रम में हम तर्क करते हैं कि 'यदि घट होता तो दिखायी देता' इस प्रकार के प्रसंग के उपरान्त ही घटाभाव का प्रत्यक्ष द्रष्टा को होता है। जब तक इस प्रकार से प्रसंग द्रष्टा नहीं करता, तब तक घटाभाव को देख नहीं पाता। बिना इस प्रसंग के घटाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी कारण एक ही भूतल पर घट, पट इत्यादि अनेकों का अभाव होने पर भी द्रष्टा समस्त अभावों को एक साथ नहीं देख पाता, अपितु जिस अभाव के

प्रतियोगी का स्मरण होता है, तथा जिस अभाव के प्रतियोगी के होने की स्थिति में उसका प्रत्यक्ष होने का आरोप या प्रसंग करता है, उसी अभाव का प्रत्यक्ष करता है। इस तरह तर्क प्रत्यक्ष की भी सहायता करता है। परन्तु यही प्रसंग बिना चक्षुरिन्द्रिय का भूतल के साथ सन्निकर्ष हुए घटाभाव का ज्ञान करा पाने में सक्षम नहीं है।[24] इसी प्रकार तर्क शब्द प्रमाण की भी सहायता करता है । तर्क केवल अनुमान की सहायता करता हो ऐसा नहीं है। इसी विवेचन के प्रसंग में वाचस्पति मिश्र न्यायसूत्रकार की परिभाषा से स्वतन्त्र होकर तर्क का स्परूप भी स्पष्ट करते हैं कि 'अयुक्त का प्रतिषेध करते हुए युक्त का अभ्यनुज्ञान करना ही तर्क है'।[25] तर्क यही कार्य करता है। वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रदान की गयी यह परिभाषा न्यायसूत्रकार की परिभाषा की अपेक्षा स्पष्टतर है।

वाचस्पति मिश्र द्वारा की गयी विवेचना से यह बात उभर कर सामने आती है कि तर्क किस कारण निश्चय कराने में सक्षम नहीं हो सकता। तर्क की भूमिका मूलरूप से अयुक्त का प्रतिषेध करने में हैं। अयुक्त का प्रतिषेध तर्क किस प्रकार से कर सकता है तथा युक्त का अभ्यनुज्ञान तर्क किस प्रकार से करेगा ? कुछ एक बिन्दुओं को उदयनाचार्य स्पष्ट करते हैं और साथ ही साथ तर्क को प्रमाण न मानने का आधार भी बताते हैं। वे कहते हैं कि यदि तर्क प्रमाण होगा तो दो प्रकार के विभागों में से किसी एक में अन्तर्भूत होगा। या तो तर्क प्रमात्मक होता हुआ प्रमाण बनेगा, जैसे अनुमान के स्थल में लिंग का दर्शन (हेतु का दर्शन) प्रमारूप है तथा प्रमाण भी होता है, अथवा इन्द्रियादि की तरह अप्रमारूप होता हुआ प्रमाण बनेगा। ध्येय है कि इन्द्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है, परन्तु इन्द्रियों को प्रमाण नहीं माना जाता है। इन्द्रियाँ प्रमारूप नहीं हैं। लिंगदर्शन अनुमिति प्रमा का करण होने के कारण अनुमान प्रमाण कहा जाता है, साथ ही साथ वह लिंगदर्शन प्रमात्मक होता है, प्रमारूप है। तर्क न तो प्रमारूप होकर प्रमाण हो सकता है क्योंकि तर्क आहार्य होने से आरोपात्मक है। आहार्य एक खास प्रकार का ज्ञान होता है, जो कि हमारी इच्छा से जन्म लेता है। केवल इतनी ही बात नहीं है अपितु बाध के काल में हमारी इच्छा से जन्य ज्ञानविशेष को आहार्य ज्ञान कहा जाता है।[26] नैयायिक विभिन्न ज्ञानों में इच्छा का महत्त्वपूर्ण योगदान मानते हैं। यहाँ तक कि समस्त आहार्य ज्ञान इच्छा से जन्म लेते हैं, तर्क भी एक प्रकार का आहार्य ज्ञान ही है। इस कारण कहा जा सकता है कि समस्त तर्क इच्छा से जन्म लेते हैं। यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि जिस किसी भी ज्ञान

में हमारी इच्छा का योग हो, उस ज्ञान को प्रमात्मक नहीं माना जा सकता । इच्छा का योगदान होने की स्थिति में उस ज्ञान को किस प्रकार से प्रमात्मक माना जा सकेगा ? इस कारण तर्क प्रमारूप नहीं हो सकता। यदि तर्क प्रमारूप नहीं है, तो वह लिंगदर्शन की तरह प्रमाण नहीं हो सकेगा ? चूँकि तर्क प्रमारूप नहीं है, इसी कारण तर्क का जो करण होता है, उसको भी प्रमाण मानने का सवाल नहीं उठता क्योंकि प्रमा के करण को ही प्रमाण कहा जाता है।[27] इन्द्रियों की तरह अप्रमारूप होकर तर्क प्रमाण क्यों नहीं हो सकता? इसका समाधान उदयनाचार्य देते हैं कि यह देखना चाहिए कि तर्क के द्वारा सिद्ध क्या होता है? तर्क के द्वारा तर्क के विषय व्याप्य का अभाव ही सिद्ध होता है। इस कारण यदि तर्क का प्रामाण्य किसी में होने की गुंजाइश है तो सिर्फ तर्क के विषय व्याप्य का अभाव सिद्ध करने में ही तर्क का प्रामाण्य होने की गुंजाइश है अन्य किसी में नहीं। उदयन इस प्रसंग में उदाहरण नहीं देते, परन्तु एक उदाहरण पकड़ लेने से उनका मन्तव्य सुस्पष्ट हो जायेगा। पर्वत में धूम को देखकर वह्नि का अनुमान करते समय यदि कोई आशंका करे कि ठीक है धूम रहे परन्तु अग्नि न रहे। यह आशंका धूम के अग्निव्यभिचारित्व की आशंका है। इसके द्वारा धूम में अग्नि का व्यभिचारित्व आशंकित होता है। इस आशंका का समाधान तर्क के द्वारा किया जाता है कि "यदि धूम अग्नि का व्यभिचारी होता तो धूम अग्नि से जन्य नहीं होता"। इस तर्क के द्वारा क्या सिद्ध होता है? इस तर्क के द्वारा सिद्ध होता है कि धूम अग्नि के बिना नहीं रहेगा। इस कारण उपर्युक्त आशंका का निवारण हो जाता है। अग्निव्यभिचारित्व का व्यापक अग्निजन्यत्वाभाव है। इस तर्क के द्वारा अग्निव्यभिचारित्व के आरोप से अग्निजन्यत्वाभाव का आरोप किया जाता है जबकि धूम में अग्निजन्यत्व प्रमाणान्तर से निर्धारित है। इस कारण ऐसा तर्क प्रस्तुत करने पर व्याप्य अग्निव्यभिचारित्व का अभाव सिद्ध हो जाता है। परन्तु देखना चाहिए कि क्या तर्क का उसके साथ कोई नियामक सम्बन्ध है, जिसको वह सिद्ध करता है। यदि कोई नियामक सम्बन्ध नहीं है, बिना किसी नियामक सम्बन्ध के ही कोई किसी की सिद्धि करने लगे तब तो अतिप्रसंग हो जायेगा। तो है क्या? वस्तुतः तर्क का अपने विषय के व्याप्य के अभाव के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण के द्वारा धूम में अग्नि का अव्यभिचारित्व सिद्ध होता है। तर्क का व्याप्य है अग्निव्यभिचारित्व, उसके अभाव यानी अग्निव्यभिचारित्वाभाव के साथ अग्निजन्यत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध है।

इस प्रकार कहीं पर भी जिसकों तर्क सिद्ध करता है उसके साथ उसका कोई सम्बन्ध रहता नहीं। इस कारण यही मानना समुचित है कि तर्क स्वयं में प्रमाण नहीं है बल्कि प्रमाण की सहायता लेना उसकी विवशता है।[28] तब तक तर्क सफल नहीं होता, जब तक वह विपर्यय को सिद्ध नहीं करता हो। विपर्यय को सिद्ध करने के लिए प्रमाण की सहायता लेना अत्यन्त आवश्यक है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि फिर तो अकेले प्रमाण भी सफल नहीं होता, इस कारण तर्क तथा प्रमाण दोनों को मिलाकर प्रमाण माना जाना चाहिए। दोनों में से किसी एक को कम महत्त्व देना तथा किसी दूसरे को अधिक महत्त्व देना उचित नहीं दिखता। इस प्रश्न के उत्तर में उदयन कहते हैं कि जो ज्ञान को सम्पन्न कराता है, उसी को प्रमाण कहा जाता है। इसी कारण प्रमाण को तो प्रमाण कहते हैं तर्क को नहीं, क्योंकि वह तो केवल आरोप्य की प्रमाणविरुद्धता को बताकर उसका निराकरण कर देता है। इससे अधिक कार्य तर्क का नहीं है।[29] तर्क प्रमाण से साधनीय अर्थ की सम्भावना को ही अनुमति प्रदान करता है।

तर्क के विषय में कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार जयन्त भट्ट ने व्यक्त किये हैं। जयन्त भट्ट न्यायसूत्रकार के तर्कलक्षणसूत्र की व्याख्या करते हुए तर्क शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं। सूत्र था 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः' किसी अर्थ का तत्त्व विज्ञात न होने के काल में उस वस्तु को जानने के लिए जिज्ञासा भी होती है, सन्देह भी होता है तथा तर्क भी होता है। परन्तु इनमें जिज्ञासा तथा सन्देह की अपेक्षा तर्क का वैशिष्ट्य यह है कि तर्क कारणोपत्ति से होता है। कारणोपपत्ति का तात्पर्य संशयात्मक ज्ञान में उल्लिख्यमान दो पक्षों में से किसी एक पक्ष के उत्थापन के अनुकूल कारणों का अवलोकन करना है।[30] तर्क प्रमाण न होते हुए किस प्रकार से तत्त्वज्ञानार्थ हो सकता है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए जयन्त भट्ट स्पष्ट करते हैं कि तत्त्वज्ञानार्थ कहने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तर्क प्रमाण नहीं है, परन्तु उसके द्वारा प्रमाण का अनुग्रह किया जाता है। प्रमाण के विषय का परिशोधन करते हुए तर्क अनुग्रह करता है।[31] इस विषयपरिशोधन को प्रमाण के मार्ग का परिशोधन भी कहा जा सकता है। इस प्रकार उक्त सूत्र का अर्थ जयन्त भट्ट करते हैं कि 'जिसका तत्त्व ज्ञात नहीं है परन्तु धर्मी ज्ञात है, ऐसे धर्मी के विषय में एक पक्ष के प्रति अनुकूल कारण के दर्शन से उस पक्ष के बारे में जो सम्भावनाप्रत्यय होता है–भवितव्यता का अवभास होता है–द्वितीय पक्ष की शिथिलता का आपादन

करने में प्रथमपक्षग्राहक प्रमाण को अनुगृहीत कर उसको सुखपूर्वक प्रवृत्त करने वाला तत्त्वज्ञान के लिए किया जाने वाला जो ऊह है, उसी को तर्क कहा जाता है'।[32] इसका उदाहरण भी जयन्त भट्ट देते हैं कि जैसे वाहकेलिप्रदेशादि में (घुड़दौड़ आदि खेल जिस स्थान पर होते हैं, ऐसे जगह पर) ऊर्ध्वत्वादि से विशिष्ट किसी धर्मी को देखकर इसको पुरुष होना चाहिए, ऐसा प्रत्यय होता है। इसको पुरुष होना चाहिए, इस प्रकार का प्रत्यय न तो निश्चयात्मक प्रत्यय कहा जा सकता है और न तो इसको सन्देह कहा जा सकता है। निश्चयात्मक न होने का कारण यह है कि इसमें यह ऐसा ही है, इस प्रकार का निर्धारण नहीं है। निश्चय होने के लिए ऐसा निध ारण होना चाहिए था। यह सन्देह भी नहीं है क्योंकि सन्देह होने के लिए इसमें दो कोटियों का भान होना चाहिए था। इस कारण यह सन्देह तथा निश्चय दोनों से भिन्न किस्म का तर्करूपी ज्ञान है।[33] संशय तथा निश्चय दोनों में ही न आने वाला क्या कोई ज्ञान का प्रभेद सम्भव है ? सामान्यतया तो ज्ञान के यही दो प्रभेद सम्भव दिखते हैं। यदि धर्मी की कोई विशेषता ज्ञात नहीं हुई है, तो निश्चय ही इस प्रकार का प्रत्यय संशयात्मक ही होना चाहिए। यदि धर्मी की कोई विशेषता ज्ञात है, तो इस प्रकार के प्रत्यय को निश्चयात्मक ही होना चाहिए क्योंकि धर्मी के विशेषधर्म के ज्ञात रहने पर तो निश्चयात्मक ही ज्ञान होगा। इन दोनों पक्षों से अतिरिक्त कोई तीसरा पक्ष सम्भव नहीं दिखता। इसके उत्तर में जयन्त भट्ट का कहना है कि अपने द्वारा परिकल्पित मनमाने विकल्पों के आधार पर प्रत्येक आत्मा के द्वारा वेदनीय संविद् का निराकरण नहीं किया जा सकता।[34] ज्ञान का जो प्रकार सार्वजनीन अनुभव के द्वारा सिद्ध है, ज्ञान के उस प्रकार का अपलाप नहीं किया जा सकता। समस्त मनुष्यों को इस प्रकार का अनुभव होता है। एक तो 'स्थाणु है या पुरुष' इस प्रकार की संशयात्मक प्रतीति होती है, दूसरी 'यह पुरुष ही है' इस प्रकार की निश्चयात्मक प्रतीति होती है। इससे अतिरिक्त भी 'इसको पुरुष होना चाहिए' इस प्रकार एक अन्य प्रकार की समस्त मनुष्यों के अनुभव के द्वारा सिद्ध है, जो कि संशय तथा निश्चय दोनों के बीच की प्रतीति है। इस प्रकार की प्रतीति के लिए हमारे हृदय के द्वारा ही साक्ष्य प्राप्त होता है। इसके विषय में जयन्त भट्ट एक उदाहरण भी प्रदान करते हैं, जैसे घुड़सवारों की दौड़ जिस स्थलविशेष में होती है, उस स्थान में घोड़े को देखते हुए जब हम किसी ऊँची चीज को दूर से देखते हैं, जिसके पुरुष होने का निर्धारण हम नहीं कर पा रहे होते हैं, परन्तु हमको ज्ञान होता है कि

'इसको पुरुष होना चाहिए'। वहाँ पर घोड़ारूपी वाहन का दर्शन सम्भावना का बीज है, घुड़दौड़ के मैदान का दर्शन विशेषदर्शन है, जो यह निर्धारण करता है कि घुड़दौड़ के मैदान में कोई स्थाणु या खम्भे जैसी चीज नहीं हो सकती। परन्तु घुड़दौड़ के मैदान का दर्शन पुरुष के हस्त–पादादि के दर्शन के समान सामने दिखनेवाली चीज के पुरुष होने का निर्धारण नहीं करता। वह सर्वात्मना अन्य पक्ष का अपसारण करता हुआ पुरोदृश्यमान वस्तु के पुरुष होने का निर्णय नहीं कराता। इस प्रकार का प्रत्यय चूँकि एक पक्ष को सिद्ध करने में अनुकूल कारण की उपपत्ति से होता है, अतः संशयात्मक नहीं होता। संशय से तर्क का स्पष्ट अन्तर यह है कि संशय उभयकोटियों के स्मरण से होता है। इसके विपरीत तर्क केवल एक कोटि के स्मरण से होता है। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता है कि संशय तथा निश्चय से अतिरिक्त ज्ञान का कोई अन्य प्रकार है ही नहीं। इस प्रकार तर्क का निश्चय तथा संशय से भेद अत्यन्त स्पष्ट है। इसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता।[35] जयन्त भट्ट के अनुसार संशय तथा निश्चय के बीच में त्रिशङ्कु के समान अवस्थित है तर्क तथा ज्ञान का यह प्रभेद हमारे अनुभव के द्वारा ही सिद्ध है।

इस प्रसङ्ग में जयन्त भट्ट न्यायभाष्यकार वात्स्यायन द्वारा किये गये तर्क के उदारहण की आलोचना भी करते हैं। न्यायभाष्यकार ने उदाहरण दिया था कि 'क्या यह जन्म कृतक हेतु से निवृत्त होता है अथवा अकृतक हेतु से ? इस प्रकार सन्देह होने की स्थिति में कारणोपपत्ति से तर्क होता है कि यदि कृतक हेतु से जन्म होता है, तब तो कृतक हेतु की निवृत्ति होने की स्थिति में कारण की निवृत्ति होने से कार्य की निवृत्ति सम्भव होने के कारण जन्म की निवृत्ति हो सकती है। परन्तु यदि अकृतक हेतु से जन्म होता है, तो अकृतक हेतु की निवृत्ति किसी भी प्रकार से सम्भव न होने के कारण जन्म की निवृत्ति भी नहीं हो सकेगी।' इस उदाहरण की आलोचना जयन्त भट्ट करते हैं कि यह वस्तुतः तर्क का उदाहरण नहीं है क्योंकि उस क्रम से तो यह निर्णय ही हो जायेगा, तर्क नहीं रहेगा। अथवा चूँकि यह कार्योदाहरण है, इस कारण इस स्थल में भी संशय तथा निश्चय के अन्तराल में विद्यमान तर्कप्रत्यय होता है, यह देखना चाहिए।[36] ऐसा लगता है कि जयन्त भट्ट को उदाहरण पर आपत्ति कम है, अधिक आपत्ति उस उदाहरण के प्रस्तुतीकरण के तरीके पर है। वात्स्यायन ने उस उदाहरण को जिस प्रकार से प्रस्तुत किया है, उससे वह तर्क के प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया के अनुसार संगत नहीं दिखता। इतना तय है कि जयन्त भट्ट तर्क को सम्भावना के रूप में ही लेते हैं।

सम्भावना शब्द का प्रयोग परवर्ती न्यायपरम्परा, जिसको हम नव्यन्याय के रूप जानते हैं, में संशय के अर्थ में ही होता है। परन्तु एक खास किस्म के संशय के रूप में होता है। जिस सन्देह में एक पक्ष की उत्कटता होती है, ऐसे सन्देह को सम्भावना कहा जाता है। परन्तु तर्क प्रमाण से साधनीय अर्थ की सम्भावना को ही अनुमति प्रदान करता है, इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि तर्क उत्कटकोटिक सन्देह को जन्म देता है। उदयनाचार्य, उत्कटकोटिक सन्देहरूपी सम्भावना को तर्क जन्म देता है, इस बात को स्वीकार नहीं करते। सम्भावना का उन्होंने सन्देह से भिन्न अर्थ में प्रयोग किया है। उनके अनुसार तर्क किसी पक्ष की सम्भावना करता है, इसका तात्पर्य यह है कि तर्क उस पक्ष का विरोध नहीं करता, द्वितीय पक्ष का विरोध करता है। तर्क के द्वारा किसी पक्ष की सम्भावना करने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह उस पक्ष के विषय में सन्देह को जन्म दे रहा है क्योंकि सन्देह तो उस पक्ष के विषय में भी है जिस पक्ष को तर्क अयुक्त बता रहा है। इसी प्रकार अनुज्ञा का तात्पर्य यही है कि वह तर्क प्रवर्तमान प्रमाण के अनुकूल है।[37] इस प्रकार उदयनाचार्य तक तर्क का प्रमाण से अन्तर अत्यन्त सुस्पष्ट हो गया था। यह देखा जा सकता है कि न्यायसूत्रकार ने जो बात अस्पष्ट कही थी, उसको परवर्ती आचार्यों ने सुस्पष्ट किया। सुस्पष्ट करने के क्रम में कुछ भिन्नता भी आयी है। तब भी प्रमाण से तर्क का भेद स्फुट रूप से इन समस्त आचार्यों ने स्वीकार किया है।

इन आचार्यों ने तर्क के जो उदाहरण दिये हैं, उनके आलोक में कुछ एक विचारबिन्दु ऐसे हैं जिनकी तरफ मैं प्रमुख रूप से ध्यान दिलाना चाहता हूँ। वस्तुतः इनकी तरफ ध्यान देने से न्यायवैशेषिक दर्शन की प्रमाणमीमांसीय तथा तत्त्वमीमांसीय दृष्टि उभर कर सामने आ सकती है। भाष्यकार ने दो उदाहरण तर्क के लिए थे, इन दोनों ही उदाहरणों की खासियत यह है कि गौतम बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों में ये दोनों उदाहरण परिगणित हैं तथा पाश्चात्य दर्शन के महत्त्वपूर्ण चिन्तक कान्ट के विरुद्ध कोटियों में भी ये गिने गये हैं। गौतम बुद्ध तथा कांट दोनों के ही अनुसार 'आत्मा नित्य है या अनित्य' यह प्रश्न हमारी तर्कबुद्धि से निर्णीत नहीं किया जा सकता। इसके अलावा इस जन्म में प्राप्त होने वाले सुख दुःखादि हमारे पूर्व जन्म के कर्मों के फल हैं या नहीं ? इसका भी निर्णय हमारी तर्कबुद्धि के द्वारा नहीं किया जा सकता। सामान्य बुद्धि यही मानती है कि इनके बारे में कोई ऐसा प्रमाण

नहीं उपलब्ध कराया जा सकता जो कि वैज्ञानिक हों। मुझे आवश्यक लगता है कि हमें यह निर्धारण करना चाहिए कि क्या दार्शनिक युक्ति और वैज्ञानिक युक्ति में कोई अन्तर है ? क्या दार्शनिक युक्ति को भी वैज्ञानिक युक्ति के समान ही होना चाहिए ? वात्स्यायन की युक्ति वैज्ञानिक युक्ति भले ही न हो, परन्तु उसको दार्शनिक युक्ति मानना ही चाहिए। हमारी प्रमाणों की सीमारेखा सामान्यतया हमारे दृश्यजगत् का उल्लंघन नहीं करती। परन्तु यदि तर्क की सहायता प्राप्त हो तो उसका उल्लंघन भी करती है, यही वात्स्यायन के द्वारा इन उदाहरणों को ग्रहण करने का अभिप्राय प्रतीत होता है। इस आलोक में परवर्ती आचार्यों का अभिप्राय यह दिखता है कि समस्त प्रमाणों को तर्क की अपेक्षा होती है, इस कारण लौकिक प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुओं को जिस प्रकार हम प्रमाणसिद्ध मानते हैं उसी प्रकार आत्मा की नित्यता, जन्ममरण आदि की कर्मनिमित्तता इत्यादि सिद्धान्तों को भी स्वीकार करना चाहिए। इनको प्रमाण की सीमारेखा से बाहर करना अनुचित है।

(2)

उदयनाचार्य से लेकर गङ्गेशोपाध्याय के बीच का काल संक्रमण काल है। यह वह समय है जब प्राचीन न्याय के स्थान पर नव्यन्याय का आविर्भाव हो रहा था। आश्चर्यजनक रूप से गङ्गेशोपाध्याय तर्क की भूमिका को लेकर उदयनाचार्य से मतभेद नहीं रखते। गङ्गेशोपाध्याय के पूर्ववर्ती नव्यनैयायिक मणिकण्ठ मिश्र अवश्य इस विषय में उदयन से अपना मतवैभिन्य रखते हैं। मणिकण्ठ मिश्र तर्क को व्याप्तिग्राहक मानते हैं, उनके मत से तर्क व्याप्ति का ग्रहण कराता है। तर्क को व्याप्तिग्राहक मानना मणिकण्ठ की अनूठी विशेषता है। न तो उदयन, न तो अन्य प्राचीन नैयायिक और न तो गङ्गेशोपाध्याय तर्क को व्याप्तिग्राहक मानते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि उदयन की जैसी तीखी आलोचना श्रीहर्ष ने की है, उसके आलोक में अत्यन्त आवश्यकता महसूस हुई कि किस प्रकार न्यायमत की रक्षा की जाये। श्रीहर्ष ने किसी भी प्रकार व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है, ऐसा पक्ष प्रस्तुत किया था। श्रीहर्ष की आलोचना के परिप्रेक्ष्य में न तो सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से, न तो तर्क से तथा न तो प्रत्यक्ष से ही व्याप्ति का ग्रहण सम्भव है।

मणिकण्ठ मिश्र को लगता है कि तर्क के बारे में उनके पहले जितना भी विवेचन आचार्यों के द्वारा किया गया है, वह सारा का सारा विवेचन किसी अंश में अपूर्ण है। वे प्रथमतया यह निष्कर्ष देते हैं कि तर्क व्याप्तिज्ञान के प्रति

कारण होता है तथा इसी कारण अनुमाननिरूपण के प्रसंग में सबसे पहले तर्क का ही निरूपण करने की प्रतिज्ञा करते हैं[38]। मणिकण्ठ मिश्र प्राथमिक प्रश्न उठाते हैं कि तर्क किस प्रकार से अनुमान में उपयोगी हो सकता है ? दो बातें हो सकती हैं – या तो अनुमान में तर्क साक्षात्कारण होता है अथवा परम्परया कारण होता है। परन्तु दोनों ही पक्ष सम्भव नहीं हैं। अनुमान में तर्क साक्षात्कारण नहीं हो सकता क्योंकि अनुमिति में परामर्श साक्षात्कारण होता है। नैयायिक परामर्श से जन्य ज्ञान को ही अनुमिति कहते हैं। व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान ही परामर्श है। इस विषय में सन्देह का कोई अवसर नहीं है। इस कारण तर्क अनुमिति में साक्षात् कारण नहीं हो सकता। यह कहना भी सम्भव नहीं है कि तर्क परामर्श का व्यापार है क्योंकि परामर्श के उपरान्त तर्क के उत्पन्न होने में तो कोई प्रमाण ही नहीं है। परामर्श अनुमिति में साक्षात् कारण होता है, यह निर्विवाद है। यदि व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान हो चुका है तो अनुमिति की उत्पत्ति में विलम्ब नहीं होता। इस कारण तर्क अनुमिति में साक्षात् कारण है, यह पक्ष बनता ही नहीं। यह देखना चाहिए कि क्या तर्क अनुमिति में परम्परया कारण हो सकता है ? इसका तात्पर्य यह है कि कहीं ऐसा नहीं कि तर्क अनुमितिकारण के प्रति कारण होता हो। इसमें अनेक विकल्प सम्भव हैं। एक पक्ष यह हो सकता है कि तर्क अनुमितिविरोधिविषयक जिज्ञासा का उच्छेद कर देता है। द्वितीय पक्ष यह हो सकता है कि तर्क अनुमिति के प्रति कारण बनने वाली जिज्ञासा को उत्पन्न कर देता है। तृतीय पक्ष यह हो सकता है कि तर्क पक्षधर्मताज्ञान को उत्पन्न करता है। चतुर्थ पक्ष यह हो सकता है कि तर्क व्याप्तिज्ञान को उत्पन्न करता है। पंचम पक्ष यह हो सकता है कि तर्क परामर्शात्मक ज्ञान को उत्पन्न करता है। परन्तु इनमें से प्रथम पक्ष 'तर्क अनुमितिविरोधिविषयक जिज्ञासा का उच्छेद कर देता है' सम्भव नहीं है क्योंकि अनुमितिविरोधी होगा साध्याभाव, साध्याभावविषयक जिज्ञासा का उच्छेद यदि तर्क कर सकता हो तो यह पक्ष स्वीकार्य हो सकता था। परन्तु अनुमान के पूर्व संशय की अवस्था में साध्य तथा साध्याभाव दोनों को विषय करनेवाली जिज्ञासा रहती है। केवल साध्याभाव को विषय करनेवाली जिज्ञासा रहती ही नहीं है। तो फिर तर्क करेगा क्या ? यदि किसी प्रकार साध्याभावमात्रविषयक जिज्ञासा का कारण होता, तो उसका निवर्तन करने के लिए तर्क का उपयोग होने की बात सोची जा सकती थी। परन्तु ऐसा नहीं है। इसी कारण द्वितीय पक्ष–'तर्क

अनुमिति के प्रति कारण बननेवाली जिज्ञासा को उत्पन्न कर देता है' – भी स्वीकार्य नहीं है क्योंकि अनुमिति के प्रति कारण बननेवाली जिज्ञासा होगी, साध्यविषयिणी जिज्ञासा। वह साध्यविषयिणी जिज्ञासा तो साध्यसन्देह के द्वारा ही उत्पादित कर दी जायेगी, उसमें फिर से तर्क को करने के लिए कुछ है ही नहीं।[39]

इन दोनों पक्षों को प्राचीन न्याय की परम्परा से जोड़कर देखा जा सकता है। वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र तथा उदयनाचार्य प्रायशः यही बात शब्दान्तर से कहते रहे हैं। जब उदयन कहते हैं कि तर्क प्रमाण की इतिकर्त्तव्यता का निर्धारण करता है, तो इस कथन का अर्थ यही समझना उचित दिखता है कि तर्क प्रमाण या अनुमान के विषय का परिशोधन करता है। इस पक्ष को मणिकण्ठ मिश्र इन दो विकल्पों के अन्तर्गत ही उठाते हैं। मणिकण्ठ मिश्र इस पक्ष को इस रूप में परिष्कृत करके रखते हैं कि प्रथमदृष्ट्या देखने पर ऐसा प्रतीत भी नहीं होता है कि यह पक्ष उद्योतकर आदि प्राचीन आचार्यों का है। तर्क का विषयपरिशोधकत्व यही है कि संशय के द्वारा तो दोनों ही कोटियों को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है क्योंकि संशय उभयकोटिक होता है। संशय में दो पक्ष होते हैं, संशयोपरान्त दोनों ही पक्षों के बारे में इच्छा होती है कि देखा जाये क्या है ? ऐसा है या वैसा है ? तर्क क्या करता है ? एक पक्ष में अनिष्ट का प्रदर्शन कर देता है। जिस पक्ष में अनिष्ट का प्रदर्शन तर्क के द्वारा कर दिया जाता है, उस पक्ष के विषय में जिज्ञासा अब नहीं रह जाती। जिसमें अनिष्ट का प्रदर्शन तर्क के द्वारा नहीं किया गया, उस पक्ष के बारे में ही जिज्ञासा अब बनी रहती है, तथा उसके विषय में प्रबल जिज्ञासा रहती है। तर्क के द्वारा विषयपरिशोधन का तात्पर्य इसी से है।[40] प्राचीनन्याय के इस पक्ष की मणिकण्ठ मिश्र विकल्पपूर्वक आलोचना करते हैं। तर्क एक कोटि का नियामक होगा तो किस प्रकार ? क्या तर्क एक कोटि का नियमन जिज्ञासा में किसी विशिष्टता को उत्पन्न करते हुए करेगा ? अथवा केवल साध्यविषयक जिज्ञासा को उत्पन्न करते हुए एक कोटि का नियमन करेगा ? अथवा साध्याधिक कोटि तथा साध्याभावन्यूनकोटि विषयक जिज्ञासा को उत्पन्न करते हुए एक कोटि का नियमन करेगा ? इन तीनों में से कोई भी पक्ष स्वीकार्य नहीं है। प्रथम पक्ष इस कारण सम्भाव्य नहीं है क्योंकि जिज्ञासा तो स्वयं क्षणमात्रस्थायी आत्मगुण है, उसमें किस प्रकार से किसी विशिष्टता को उत्पन्न क़िया जा

सकता है ? इस कारण प्रथम पक्ष असम्भव है। द्वितीय पक्ष भी अनुचित है क्योंकि केवल साध्य को विषय करने वाली जिज्ञासा किसमें होनी चाहिए ? जिस किसी स्थल में तो केवल साध्य को विषय करनेवाली जिज्ञासा के होने से कोई लाभ नहीं है। यदि केवल साध्य को विषय करनेवाली जिज्ञासा, जिसमें साध्य का अनुमान करना है, उस पक्ष में होने का पक्ष रखा जाये तो पक्ष में अभी साध्य सिद्ध ही नहीं है। तो साध्य के पक्ष में असिद्ध होने पर केवल साध्यविषयिणी जिज्ञासा किस प्रकार से हो सकेगी ? पक्ष में साध्य सिद्ध है, तो फिर अनुमान की अपेक्षा ही क्या है ? पक्ष में साध्य तो सिद्ध पहले से ही हो गया। तीसरा पक्ष भी इसी कारण अनुपयुक्त है क्योंकि हमारे अनुभव के अनुसार साध्य तथा साध्याभाव दोनों ही कोटियों को विषय करनेवाले संशय के उपरान्त भी साध्य का अनुमान होता है। फिर साध्याभाव दोनों ही कोटियों को विषय करनेवाले संशय के उपरान्त भी साध्य का अनुमान होता है। फिर साध्याधिककोटिक तथा साध्याभावन्यूनकोटिक जिज्ञासा की आवश्यकता ही क्या है ?[41]

यह पक्ष हो सकता था कि तर्क के द्वारा ज्ञानोपाय के बारे में इच्छा होती है। तो यह पक्ष भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जिसके बारे में इष्टसाधनता का ज्ञान होता है, तदुपाय के बारे में ही इच्छा उत्पन्न होती है। जैसे घट की इष्टसाधनता का ज्ञान हुआ तो घटोपाय के बारे में इच्छा उत्पन्न होती है। उसी प्रकार यदि ज्ञान के इष्टसाधनत्व का ज्ञान हुआ तो ज्ञानोपाय के बारे में इच्छा होगी। उसमें तर्क क्या कर लेगा ?[42] इस प्रकार अनुमानविषय परिशोधक होने के कारण तर्क का अनुमान में कहीं पर भी कोई उपयोग दिखायी नहीं देता।

तर्क पक्षधर्मताज्ञान को भी उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि पक्षधर्मताज्ञान का तात्पर्य यह है कि जिसमें साध्य की सिद्धि अपेक्षित है ऐसे धर्मी में (पक्ष में) हेतु की विद्यमानता का ज्ञान। यह तो इन्द्रियादि से ही जन्य होता है, इसमें तो तर्क की कोई भूमिका ही नहीं है।[43] इस कारण तृतीय पक्ष भी युक्तियुक्त नहीं है।

अब क्या चतुर्थ पक्ष 'तर्क व्याप्तिज्ञान को उत्पन्न करता है' को मानने के कुछ आधार हो सकते हैं ? क्योंकि व्याप्ति का अर्थ है साध्य तथा हेतु का सामानाधिकरण्यविशेष–साध्य तथा हेतु का एक खास किस्म का सामानाधिकरण्य ही–व्याप्ति है। उस व्याप्ति का ज्ञान तर्क के बिना सम्भव

नहीं है क्योंकि जैसे व्यभिचार का निश्चय होने पर व्याप्ति का निश्चय नहीं होता वैसे ही व्यभिचार का सन्देह होने पर भी व्याप्ति का निश्चय नहीं होता। इस कारण व्यभिचारसन्देह तथा व्यभिचारनिश्चय की निवृत्ति कराने के लिए तर्क की आवश्यकता होती है। इस प्रकार व्याप्तिज्ञान के प्रति तर्क कारण हो सकता है। परन्तु इस पक्ष के साथ भी समस्यायें हैं। पहली समस्या यह है कि हर जगह पर व्यभिचारसन्देह का निवारण करता हुआ तर्क व्याप्तिज्ञान के प्रति कारण नहीं हो सकता, जैसे केवलान्वयी अनुमान के स्थल में–'घट अभिधेय है प्रमेय होने के कारण' इत्यादि स्थलों में–साध्याभाव के ही अप्रसिद्ध होने के कारण 'यदि साध्याभाव के अधिकरण में हेतु रहता, तो उसके प्रति साध्य का कारणत्व होता ही नहीं' इस प्रकार का तर्क सम्भव नहीं है। इसी प्रकार के तर्क के द्वारा व्यभिचारशंका की निवृत्ति कराते हुए व्याप्तिज्ञान का सम्पादन तर्क के द्वारा सम्भव होता लेकिन विडम्बना यह है कि ऐसा तर्क ही सम्भव नहीं।[44]

द्वितीय समस्या यह है कि कोई भी तर्क नियमज्ञान पर आधारित होता है। नियम का तात्पर्य व्याप्ति से है, कोई भी तर्क ऐसा नहीं प्राप्त हो सकता जिसमें कि व्याप्ति मूल में न हो। यदि अनुमान के स्थल में व्याप्तिज्ञान के लिए तर्क की अपेक्षा होती है, तो तर्कमूलभूत व्याप्ति के ज्ञान के लिए भी तर्क की अपेक्षा होगी। इसी प्रकार हर एक व्याप्ति को जानने के लिए तर्क की अपेक्षा होगी। कहीं पर भी इस धारा की विश्रान्ति सम्भव न होने के कारण अनवस्था होगी।[45]

यह कहा जा सकता था कि हर एक स्थल में व्याप्तिज्ञान के प्रति तर्क कारण नहीं होता, किन्तु जहाँ पर साध्याभाव अप्रसिद्ध होता है, ऐसे केवलान्वयी स्थलों को छोड़कर बाकी स्थलों में तर्क के द्वारा व्याप्तिज्ञान होता है, परन्तु अनवस्थादोष का निवारण तो तब भी नहीं किया जा सकेगा।

यहाँ पर मणिकण्ठ मिश्र एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात उठाते हैं। न्यायपरम्परा के उदयनाचार्य पर्यन्त आचार्यों ने यह माना था कि तर्क एक पक्ष की असम्भावना तथा द्वितीय पक्ष की सम्भावना को बताता है। परन्तु मणिकण्ठ मिश्र कहते हैं कि तर्क यदि विपर्यय में पर्यवसित नहीं है, तो ऐसे तर्क के द्वारा व्यभिचारशंका की निवृत्ति नहीं हो सकती। आशय यह है कि यदि तर्क केवल सम्भावना को ही बताता है, तो निश्चित तौर पर वह विपरीत निश्चय उत्पन्न नहीं करता। विपरीत निश्चय उत्पन्न न करनेवाला तर्क

व्यभिचारशंका की निवृत्ति नहीं करा सकता, विपर्यय पर्यवसित तर्क के द्वारा ही व्यभिचार शंका की निवृत्ति सम्भव है। तर्क के विपर्ययपर्यवसित होने के लिए आवश्यक है कि उसके मूल में व्याप्ति हो। व्याप्ति के लिए तर्क की अपेक्षा होगी, तर्क के लिए पुनः व्याप्ति की अपेक्षा होगी क्योंकि उस तर्क का भी विपर्ययपर्यवसान अपेक्षित होगा। कारणत्वादि भी नियमविशेष ही हैं, उन कारणत्वादि को जानने के लिए भी व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा होगी ही। इस कारण कार्यकारणभाव पर आधारित तर्क इस आपत्ति से सुरक्षित है, ऐसा मानना भी युक्तिसंगत नहीं। इस कारण व्याप्तिज्ञानजनकतया भी तर्क अनुमिति में उपयोगी नहीं हो सकता।[46]

यदि व्याप्तिज्ञान के प्रति तर्क को कारण माना जाये तो उपुर्युक्त अनवस्था के आधार पर इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि हर जगह पर तर्क के द्वारा शंका की निवृत्ति नहीं हो सकती। फिर किस प्रकार उन स्थलों पर शंका की निवृत्ति हो सकेगी, जहाँ पर तर्क के द्वारा शंका की निवृत्ति नहीं हो सकती ? तो इसका उत्तर यही हो सकता है और यही उत्तर दिया भी जाता है कि वहाँ पर व्याघात के द्वारा शंका की निवृत्ति होती है। उसी की आशंका की जा सकती है, जिस आशंका को करने पर स्वक्रियाव्याघात आदि दोष उपस्थित नहीं होते। जैसे 'मैं इस समय मौनी हूँ' इस प्रकार का अभिलाप सम्भव नहीं है क्योंकि इस प्रकार का अभिकथन करने पर स्वक्रियाव्याघात दोष उपस्थित होता है। यदि कोई मौनी है तो किस प्रकार से वह 'मैं इस समय मौनी हूँ' ऐसा कह सकता है ? मौनी होते हुए ऐसा कहना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार 'सम्भव है कि धूम अग्नि से जन्य न हो' इस प्रकार की आशंका करते हुए धूम के लिए अग्नि का ग्रहण करना सम्भव नहीं होगा। ऐसी आशंका करते हुए धूमार्थ अग्निग्रहण करने में व्याघात होगा। वाचिक रूप से धूम की अग्निजन्यता पर सवालिया निशान उठा रहे हैं, परन्तु व्यवहार के द्वारा स्वयं धूम की अग्निजन्यता को स्वीकार कर रहे हैं। परन्तु इस प्रकार मानने पर यह स्वीकारना पड़ेगा कि हर एक स्थल में व्याप्तिज्ञान के प्रति तर्क कारण नहीं होता क्योंकि ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पर व्याघात के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होगा।[47]

पंचम पक्ष भी समुचित नहीं है कि तर्क परामर्श के प्रति कारण होता है क्योंकि परामर्श तो व्याप्तिज्ञान की सहायता प्राप्त कर इन्द्रियों के द्वारा ही उत्पादित कर दिया जाता है।[48]

इस प्रकार से पूर्वपक्ष के रूप में इन पाँचों ही पक्षों को समुपस्थापित कर इन पाँचों ही पक्षों की असम्भाव्यता को बताने के बाद मणिकण्ठ मिश्र अन्ततः सिद्धान्त के रूप में चतुर्थ पक्ष को ही मान्यता प्रदान करते हैं कि व्याप्तिज्ञान के प्रति तर्क कारण होता है।[49] इस पक्ष में दो समस्याएँ उपस्थापित की गयी थीं। प्रथम तो यह कि यदि हर स्थल में तर्क के द्वारा ही व्याप्ति का ज्ञान होता है, तो अनवस्था होगी। यदि कुछ स्थलों पर तर्क के बजाय व्याघात के द्वारा व्याप्ति का ज्ञान स्वीकार किया जाये, तो सर्वत्र तर्क के द्वारा ही व्याप्ति का ज्ञान होता है, यह स्वीकृति नहीं दी जा सकती, क्योंकि उन स्थलों का क्या होगा जहाँ पर कि व्याघात के द्वारा व्याप्ति का ज्ञान होता है ? तो इसका समाधान मणिकण्ठ मिश्र देते हैं कि वस्तुतः व्याघात भी एक विशेष प्रकार का तर्क ही है।[50] व्याघात को तर्क मानने का आधार क्या है ? व्याघात भी यद्यपि विरोधविशेष है, परन्तु दो के साथ–साथ नहीं रहने का जो ज्ञान है, उसको ही व्याघात कहा जाता है। उसमें व्याप्ति या नियम कहीं से भी अन्तर्भूत नहीं होता क्योंकि यदि व्याघात में भी व्याप्ति या नियम अन्तर्भूत होता तो उसमें व्याप्ति का ज्ञान कराने के लिए पुनः तर्क की अपेक्षा हो सकती थी। इस कारण अनवस्था की समस्या समाप्त नहीं होती। परन्तु व्याघात में व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा न रहने के कारण अनवस्था की समस्या का समाधान हो जाता है। दूसरी समस्या थी कि केवलान्वयी अनुमान के स्थल में क्या होगा ? वहाँ पर किस प्रकार व्यभिचारशंका हो सकेगी ? विना व्यभिचारशंका के किस प्रकार तर्क व्याप्ति का ज्ञान करा सकेगा ? तो इसका समाधान मणिकण्ठ मिश्र देते हैं कि केवलान्वयी स्थल में व्याप्ति का सन्देह भले ही साध्याभाव के ही अप्रसिद्ध होने के कारण न हो सकता हो, परन्तु हेतु के प्रति साध्य की व्यापकता का सन्देह तो हो ही सकता है और इसमें साध्याभाव कहीं भी नहीं आता। साध्य (अभिधेयत्व) साधन (प्रमेयत्व) के अधिकरण में रहनेवाले अभाव का प्रतियोगी है या नहीं, इस प्रकार का सन्देह केवलान्वयी अनुमान के स्थलों 'घट अभिधेय है प्रमेय होने के कारण' में भी सम्भव है। यही व्यापकता का सन्देह है और व्यापकता का सन्देह भी निष्कर्ष रूप में व्याप्ति का ही सन्देह होता है।[51] इस कारण हर स्थल में तर्क के द्वारा ही व्याप्तिज्ञान होता है, न्यायवैशेषिकपरम्परा के लिए ऐसा एकदम नवीन पक्ष मणिकण्ठ मिश्र उपस्थापित करते हैं।

यद्यपि 'हर स्थल में तर्क के द्वारा ही व्याप्तिज्ञान होता है' इस पक्ष में स्वयं मणिकण्ठ मिश्र का बहुत आदर या आग्रह नहीं है। इसी कारण द्वितीय

पक्ष भी वे उपस्थापित करते हैं कि कहीं पर तर्क से व्याप्तिग्रह होता है, कहीं पर आप्तोपदेश से तथा कहीं पर व्याघात से भी व्याप्ति का ग्रहण होता है।[52] परन्तु एक बात तो तय है कि कम से कम कुछ स्थल तो ऐसे हैं ही जहाँ पर तर्क के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होता है।

मणिकण्ठ मिश्र के इस पक्ष के साथ कुछ दूसरी समस्याएँ हैं। ध्येय है कि जो जैन दार्शनिक तर्क को प्रमाण मानते हैं, वे यही कहते हैं कि तर्क के द्वारा व्याप्ति का ज्ञान कराया जाता है। यह व्याप्तिज्ञान किसी भी अन्य प्रमाण से सम्भव नहीं है। इस कारण तर्क को एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मान्यता दी जान चाहिए। ऐसा लगता है कि मणिकण्ठ मिश्र के संज्ञान में यह समझ नहीं आयी थी, क्योंकि इस समस्या को उन्होंने उठाया ही नहीं।

तर्क का लक्षण बताते हुए भी मणिकण्ठ मिश्र अपनी मौलिकता का परिचय देते हैं। तर्क का जो लक्षण उन्होंने सिद्धान्तरूप में दिया है वही परवर्ती न्यायवैशेषिकपरम्परा में स्वीकृति को प्राप्त हुआ। तर्क के लक्षण के विषय में विचार करते हुए वे प्रथमतया लक्षण प्रस्तुत करते हैं कि 'व्याप्य का आरोप करते हुए व्यापक का आरोप करना' ही तर्क का लक्षण है[53]। यद्यपि मणिकण्ठ मिश्र इसको स्पष्ट नहीं करते तथापि आरोप का तात्पर्य भ्रमात्मक ज्ञान से है। कहीं पर जो वस्तु नहीं है यदि वहाँ पर उस वस्तु का भ्रम हो तो उसको हम आरोप कहेंगे। परन्तु इस लक्षण के साथ समस्या यह है कि यदि किसी को धुएँ के विषय में धूल की उठी हुई लहर होने का भ्रम हो जाये तथा अग्नि में किंशुककुसुम होने का भ्रम हो जाये और इस कारण कोई कहे कि 'धूलीपटलवान् देश किंशुककुसमवान् है' तो यहाँ पर व्याप्य का आरोप करते हुए व्यापक का आरोप किया जा रहा है। इसका कारण यह है कि धूलीपटलवान् कहकर जिसका आरोप किया जा रहा है वह वस्तुतः तो धूम ही है, जो कि अग्नि का व्याप्य है। इसी प्रकार किंशुककुसुमवान् कहकर जिसका आरोप किया जा रहा है वह भी वस्तुतः अग्नि ही है, जो कि धूम का व्यापक है। इसलिए वस्तुतः तो व्याप्य का आरोप करते हुए व्यापक का ही आरोप किया जा रहा है।

यह कहा जा सकता है कि इस स्थल में व्याप्य तथा व्यापक का आरोप नहीं किया जा रहा है किन्तु व्याप्य तथा व्यापक पर किसी अन्य का आरोप किया जा रहा है– व्याप्य धूम पर धूलीपटल का तथा व्यापक अग्नि पर किंशुककुसुम का आरोप किया जा रहा है। इस कारण व्याप्य का आरोप

करते हुए व्यापक का आरोप नहीं किया जा रहा है। तो भी किसी को किसी ऐसे स्थल पर जहाँ पर न तो धूम है और न तो अग्नि और फिर भी 'धूमवान् यह देश अग्निमान् है' इस प्रकार की प्रतीति हो रही है, तो यहाँ पर व्याप्य धूम का आरोप करते हुए ही व्यापक अग्नि का आरोप किया जा रहा है। इस कारण इस प्रकार के ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी। निश्चय ही ऐसा ज्ञान तर्क नहीं है।[54]

यदि यह कहा जाये कि व्याप्यत्वेन किसी की प्रतीति के उपरान्त यदि व्यापकत्वेन किसी का आरोप किया जा रहा है, तो उसको तर्क कहा जाता है। तो इस परिभाषा में भी समस्या है। इस लक्षण की अतिव्याप्ति उस स्थिति में भ्रमात्मक अनुमिति में होगी जब कोई धूलीपटल में धुएँ की भ्रान्ति के आधार पर अग्नि का अनुमान करता है, क्योंकि इस अनुमिति को आप निश्चय ही तर्क नहीं कहेंगे। परन्तु तर्क का लक्षण इस अनुमिति में भी समन्वित हो रहा है। इस कारण अनुमिति में तर्क के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।[55]

अतिव्याप्ति ही नहीं अपितु इस लक्षण में अव्याप्ति दोष भी है। यदि कोई सम्भावनात्मक कथन करता है, जैसे 'यदि अतिथि आता है, तो उसको भोजन कराना चाहिए' तथा उस स्थिति में अतिथि आता भी है तथा उसको भोजन भी कराया जाता है। इसी तरह 'जल यदि सहकारियों से सहकृत होता है, तो प्यास बुझाता है' इस प्रकार से यदि कोई सम्भावना करता है, ऐसी परिस्थिति में जल सहकारियों से सहकृत होता भी है, तथा प्यास बुझाता भी है। इन स्थलों पर की जानेवाली सम्भावनाएँ सत्य सम्भावनायें हैं, अतः यथार्थज्ञानात्मक हैं। इस कारण इन सत्य सम्भावनाओं में व्याप्य का आरोप करते हुए व्यापक का आरोप नहीं किया जा रहा है। यदि ये सम्भावनाएँ यथार्थज्ञानात्मक नहीं होतीं, तो इनमें लक्षण का समन्वय होता। इस कारण लक्षण की अव्याप्ति होगी।[56]

सचमुच में तो इस लक्षण में असंभव दोष है। किसी भी तर्क में यह लक्षण समन्वित नहीं हो सकता क्योंकि जितने भी तर्क होते हैं, वे सभी ही यथार्थ होते हैं। जो भी तर्क व्याप्ति का स्थापन करने में सक्षम होता है, वे सभी यथार्थ ही होते हैं। यही तो तर्क तथा तर्काभास में अन्तर है।[57]

इस कारण तर्क का यह लक्षण मणिकण्ठ मिश्र छोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि तर्कत्व ज्ञान की ही एक खास प्रजाति है और यही तर्कत्वजाति ही तर्क का लक्षण है।[58] तर्क को ज्ञान की एक खास प्रजाति मानने का आधार

यह है कि हमारा अनुव्यवसाय ही तर्क नाम के एक विशेष प्रकार के ज्ञान को सिद्ध करता है। जयन्त भट्ट का अनुसरण करते हुए मणिकण्ठ मिश्र भी कहते हैं कि एक ज्ञान तो संशयात्मक होता है, तथा द्वितीय प्रकार का ज्ञान निश्चयात्मक होता है। परन्तु तर्क न तो संशय हो सकता है क्योंकि उसमें एक ही कोटि का उल्लेख होता है, जबकि संशय में दो कोटियों का उल्लेख होता है। परन्तु तर्क इस रूप में नहीं होता। यहाँ तक कि तर्क तथा निश्चय का भेद हमारे अनुव्यवसायात्मक अनुभव के द्वारा भी सिद्ध होता है। हमें अनुभव है कि 'यह निर्धूम होना चाहिए, ऐसा तर्क कर रहा हूँ न कि निश्चय'। इस कारण 'तर्क संशय तथा निश्चय से भिन्न प्रकार का ज्ञान है' यह पता चलता है।

परन्तु तर्क के इस लक्षण से भी मणिकण्ठ मिश्र को संतोष नहीं है। हालांकि वे इस असंतोष का कारण नहीं बताते। मुझे ऐसा लगता है कि तर्कत्व जाति तर्क का स्वरूप हो सकता है, तर्क का लक्षण नहीं। न्यायवैशेषिकपरम्परा में सामान्यतया स्वरूप तथा लक्षण का भेद स्वीकार करना आवश्यक होता है। सम्भवतः इसी असुविधा के कारण इस लक्षण को मणिकण्ठ मिश्र छोड़ देते है और पुनः तर्क का लक्षण करते हैं कि – "अथवा व्याप्यारोप में विद्यमान व्याप्यारोपत्व से अवच्छिन्न कारणता से निरूपित कार्यता का आश्रय व्यापकारोप ही तर्क कहलाता है।"[59] मणिकण्ड मिश्र द्वारा दी गयी परिभाषा का आशय यह है कि जहाँ पर व्यापक के आरोप के प्रति व्याप्य के आरोप की कारणता हो, तथा वह व्याप्यारोप की कारणता उसके व्याप्यारोप होने के कारण हो। जब धूम को धूलीपटल समझ लिया जाता है तथा अग्नि को किंशुककुसुम समझ लिया जाता है, तो वहाँ पर व्याप्यारोपत्व से अवच्छिन्न कारणता से निरूपित कार्यता व्यापकारोप में नहीं है। इसी प्रकार धूलीपटल में धूम होने का भ्रम होने के कारण यदि कोई अग्नि का अनुमान कर रहा है तो उस स्थल में भी व्यापकारोपात्मक अनुमिति के प्रति व्याप्यारोपत्वेन कारणता नहीं होती है किन्तु परामर्शत्वेन कारणता होती है। उस व्यापकारोप के प्रति परामर्श कारण होता है न कि व्याप्यारोप। यदि परामर्श को व्याप्यारोपात्मक माना भी जाये तो भी उस व्याप्यारोपात्मक परामर्श में विद्यमान कारणता का अवच्छेदक व्याप्यारोपत्व नहीं होगा, किन्तु परामर्शत्व होगा क्योंकि अनुमिति के प्रति परामर्श कारण होता है। इसी प्रकार 'यदि अतिथि आता है, तो उसको भोजन कराना चाहिए' 'जल यदि

सहकारियों से सहकृत होता है, तो प्यास बुझाता है' इत्यादि संभावनात्मक तर्कों को तो तर्क मानना ही नहीं चाहिए क्योंकि ये तर्क हैं ही नहीं। ये तो वस्तुतः एक खास प्रकार के सन्देह हैं। इस कारण यदि इनमें तर्क के लक्षण का समन्वय नहीं हो रहा है तो उसको दूषण नहीं बल्कि भूषण समझना चाहिए।[60]

इस प्रकार मणिकण्ठ मिश्र द्वारा किये गये विवेचन के आलोक में इतना स्पष्ट दिखता है कि अन्य प्रमाणों के व्यापार में भले ही तर्क का उपयोग आवश्यक न होता हो, परन्तु अनुमान की प्रक्रिया में तर्क का उपयोग आवश्यक है। अनुमान के लिए व्याप्ति का ग्रहण होना आवश्यक है, जिसमें तर्क की भूमिका का तिरस्कार नहीं किया जा सकता।

जैन दार्शनिक तर्क के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण स्वीकार करते हैं। चूँकि व्याप्ति का निश्चय किसी अन्य प्रमाण के द्वारा संभव नहीं है, सिर्फ तर्क के द्वारा ही व्याप्ति का निश्चय हो सकता है। हेमचन्द्र 'प्रमाणमीमांसा' में इस विषय में स्पष्ट निर्धारण करते हैं कि 'ऊहा यानी तर्क के द्वारा ही व्याप्ति का निश्चय होता है।[61] प्रमेयकमलमार्तण्ड के लेखक प्रभाचन्द्र आग्रहपूर्वक प्रस्ताव रखते हैं कि तर्क का प्रामाण्य भी स्वीकार करना चाहिए। उनकी युक्तियों के इस प्रकार से देखा जा सकता है।

(1) क्या तर्क के गृहीतग्राही होने के कारण तर्क को प्रमाण नहीं मानना चाहिए ?

(2) अथवा तर्क के विसंवादी होने के कारण तर्क को प्रमाण नही मानना चाहिए ?[62]

(3) अथवा प्रमाण के विषय का परिशोधक होने के कारण तर्क को प्रमाण नहीं मानना चाहिए ?

इन तीनों ही पक्षों को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(1) प्रथम पक्ष इस कारण संभव नहीं है क्योंकि साध्य तथा हेतु की व्याप्ति का ज्ञान किसके द्वारा होता है ? क्या प्रत्यक्ष के द्वारा अथवा अनुमान के द्वारा ? प्रत्यक्ष चूँकि सन्निहितमात्र का ग्राहक होता है, इस कारण असन्निहित साध्य तथा हेतु का अन्तर्भाव करते हुए व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा संभव नहीं है।[63] अनुमान के द्वारा भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण स्वीकार करने में अनवस्था हो जायेगी क्योंकि कोई भी अनुमान व्याप्ति के ग्रहणार्थ द्वितीय अनुमान पर निर्भर होगा, द्वितीय फिर तृतीय पर, इस प्रकार कहीं पर भी विश्रान्ति नहीं हो सकेगी।[64]

(2) द्वितीय पक्ष – इस कारण संभव नहीं है क्योंकि अपने विषय में तर्क का संवाद होता ही है। जो सत्तर्क है उसका अपने विषय में संवाद होता ही है।[65]

(3) प्रमाणविषय का परिशोधक होने के कारण तर्क प्रमाण नहीं है, यह पक्ष भी अस्वीकार्य है क्योंकि प्रमाण के विषय का परिशोधन अप्रमाण के द्वारा नहीं किया जा सकता। प्रमाणविषय का परिशोधन अगर किया जा सकता है तो केवल प्रमाण के द्वारा ही किया जा सकता है। इसके समर्थन में अनुमान भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि विषय का परिशोधक होने के कारण, अनुमान की तरह। इसी प्रकार तर्क प्रमाण है प्रमाणों का अनुग्राहक होने के कारण, अनुमान की तरह, इत्यादि अनुमान भी तर्क के प्रामण्य के समर्थन में प्रस्तुत किये जा सकते है।[66]

परन्तु जैन दार्शनिकों के द्वारा प्रस्तुत ये युक्तियाँ सही नहीं है। उपर्युक्त विवेचनों के द्वारा सुस्पष्ट है कि तर्क को न तो प्रत्यक्ष में और न तो अनुमान में रखा जा सकता है। उपर्युक्त युक्तियों से जैन दार्शनिक भी प्रायशः सहमत होंगे। परन्तु न्यायवैशेषिकपरम्परा के मान्य सिद्धान्त से उनकी दूरी इस अंश में होगी कि नैयायिक व्याप्तिग्रहण की प्रक्रिया में तर्क की भूमिका को स्वीकार करते हुये भी तर्क को प्रमाणान्तर नहीं मानेंगे, यहाँ तक कि प्रमाण ही नहीं मानेंगे। हालांकि यदि मणिकण्ठ मिश्र के पक्ष को स्वीकार किया जाये तो तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक हो जायेगा। गंगेशोपाध्याय व्याप्ति का ग्रहण होने के लिए तर्क की आवश्यकता नहीं महसूस करते, उनके अनुसार व्यभिचार का अग्रह तथा सहचार का ग्रह इन दोनों के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है। व्यभिचार का ग्रहण दो प्रकार का हो सकता है – या तो निश्चयात्मक अथवा संशयात्मक। तर्क के द्वारा निश्चयात्मक तथा संशयात्मक व्यभिचारग्रहण का ही निराकरण कर दिया जाता है। व्यभिचार का निराकरण हो जाने पर मानसप्रत्यक्ष के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है। उसके लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रह जाती। गंगेश के अनुसार जिस असाधारण सहकारी को प्राप्त कर मन किसी बाह्यपदार्थ को विषय करने वाली प्रमा को उत्पन्न करता है, उसी को प्रमाण कहा जाता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सभी स्थलों पर तर्क के उपरान्त ही व्याप्ति का ग्रहण होता हो। अनेक स्थल ऐसे संभव हैं जहाँ पर

तर्क के बिना सकृद्दर्शन से ही व्याप्ति का निश्चय संभव हो। हर स्थल में तर्क का होना अनुभवगम्य भी नहीं है। इस कारण हर स्थल में व्याप्ति ग्रहण के लिए तर्क की अपेक्षा होती है, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता।

यद्यपि यह प्रश्न हो सकता है कि ठीक है, किसी स्थलविशेष में व्याप्ति के ग्रहण के लिए तर्क की अपेक्षा नहीं होती हो, परन्तु क्या इससे यह निगमित किया जा सकता है कि किसी भी स्थल में व्याप्ति के ग्रहणार्थ तर्क की अपेक्षा नहीं होगी ? इसका समाधान गंगेशोपाध्याय की ओर से संभवतः यह होगा कि इस उदाहरण से इतना तो निश्चित ही है कि इस स्थल में व्याप्ति का ग्रहण किसी अन्य पद्धति से हुआ है। किसके द्वारा व्याप्ति का ग्रहण यहाँ पर होता है ? व्यभिचारादर्शन तथा सहचारदर्शन से सहकृत मन के द्वारा। मन के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण यहाँ पर हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं क्योंकि व्याप्ति को ग्रहण करने का कोई अन्य साधन यहाँ पर संभावित ही नहीं है। कोई अन्य व्याप्ति का ग्राहक यहाँ पर नहीं है। परन्तु यदि व्यभिचार का दर्शन हुआ होता, अथवा यदि सहचारदर्शन नहीं हुआ होता, तो मन के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं था। इस कारण यही मानना उचित दिखता है कि यदि व्यभिचारादर्शन तथा सहचारदर्शन दोनों हैं, तो मन के द्वारा सीधे–सीधे व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है। तर्क वस्तुतः व्याप्ति के ग्रहण में अपनी ओर से कोई विधानात्मक भूमिका नहीं निभाता, अपितु केवल व्यभिचारशंका का निराकरण कर देता है। तर्क के द्वारा व्यभिचारशंका का निराकरण कर देने के उपरान्त, यदि सहचारदर्शन है, तो मन के द्वारा ही व्याप्ति का निश्चय हो जाया करता है। इसी कारण तर्क को प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। तर्क को प्रमाण न मानने के पीछे उदयनाचार्य ने भी अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनको हमने ऊपर प्रस्तुत किया है। उनके आलोक में भी तर्क को प्रमाण मानना सम्भव नहीं दिखता।

व्याप्ति का ग्रहण बाह्यप्रत्यक्ष से नहीं हो सकता है, इस विषय में निश्चय ही कोई सन्देह नहीं है। परन्तु मन के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होने में कोई असुविधा नहीं दिखयी देती। बाह्य प्रत्यक्ष के बारे में यह प्रश्न अवश्य बनता है कि बाह्य प्रत्यक्ष के द्वारा किस प्रकार से सर्वोपसंहार से सकल साध्य तथा सकल हेतु के मध्य व्याप्ति का ग्रहण सम्भव होगा ? परन्तु मन के बारे में यह प्रश्न नहीं उठता। न्यायपक्ष बाह्येन्द्रिय के द्वारा व्याप्ति के ग्रहण का नहीं, अपितु मन के द्वारा व्याप्ति के ग्रहण का है। इस कारण प्रभाचन्द्राचार्य के उठायी गयी प्रथम आपत्ति निराधार है। वस्तुतः तो अनुभव के द्वारा ही

पता चलता है कि तर्क साध्य तथा साधन की व्याप्ति का विषय ही नहीं करता है। यदि धूम अग्नि का व्यभिचारी होता तो अग्नि से जन्य नहीं होता, इस प्रकार से प्रस्तुत किया जाने वाला तर्क कहीं से भी व्याप्ति को विषय करता दिखता नहीं।

तर्क के संवाद की भी जो बात की जाती है, वह भी वस्तुतः असंगत है क्योंकि तर्क का संवाद उस प्रकार का संवाद नहीं है जिस प्रकार का संवाद अन्य ज्ञानों का होता है।

इसी प्रकार की बात तर्क के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए जो अनुमान प्रस्तुत किये गये हैं, उनके विषय में भी कहा जा सकता है। तर्क का न तो प्रमात्व है और न प्रामाण्य। अनुभव ही इस विषय में व्यवस्थापक हो सकता है। कुछ परिवर्तन करते हुए तर्क के अप्रामाण्य का भी अनुमान किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि तर्क अप्रमाण है ज्ञान होते हुए अप्रमा होने के कारण, भ्रमात्मक ज्ञान की तरह। इस कारण युक्तिसंगत न होने के कारण तर्क को प्रमाण मानने का जैन दार्शनिकों का पक्ष स्वीकार्य नहीं हो सकता। अप्रमाण की भी प्रमाणानुग्राहकता अनुभव के बल से स्वीकार करनी ही पड़ती है।

(3)

ऊपर हमने स्पष्ट किया है कि तर्क की इस प्रक्रिया में हमारी इच्छा का बहुत महत्वपूर्ण योगदान होता है। तर्क इच्छा से जन्य है। केवल यही मानसिक प्रक्रिया ऐसी नहीं है, जिसमें हमारी इच्छा का योगदान होता हो। हमारी अनेक मानसिक प्रक्रियाएँ इच्छा से जन्य होती हैं। इतना अवश्य है जो मानसिक प्रक्रिया हमारी इच्छा के द्वारा संचालित की जा सकती है, उसको प्रमात्मक या प्रमाणात्मक नहीं माना जा सकता। ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने के क्रम में आचार्य शंकर सुस्पष्ट रूप से उद्घोषणा करते हैं कि ज्ञान प्रमाणव्यापार से जन्य होता है, तथा वस्तुतन्त्र होता है। इस कारण उसमें इच्छा का कोई योगदान नहीं हो सकता। यहाँ पर ध्येय है कि अद्वैतवेदान्त की परम्परा में विविध विद्वानों ने ऊहापोहात्मिका मानसी क्रिया को श्रवण शब्द से समझा है। इस उहापोहात्मक मानसी क्रिया को प्राचीनन्याय में स्वीकृत तर्क के समकक्ष समझा जा सकता है, परन्तु यह ऊहापोह नव्यन्याय में परिभाषित तर्क की अवधारणा के समीप नहीं है। हां इतना अवश्य है कि इस ऊहापोह को भी अद्वैतवेदान्ती प्रमाण नहीं मानते। तर्क की अप्रतिष्ठा तर्क के द्वारा ही प्रतिष्ठापित करने से इतना तो निश्चित है कि तर्क को अद्वैतवेदान्त

में भी प्रमाण नहीं माना जाता। प्राचीनन्याय में जिस प्रकार कहा जाता है कि तर्क संभावना को जन्म देता है, उसी प्रकार अद्वैतवेदान्त भी यह बताता है कि तर्क निश्चायक नहीं होता अपितु संभावना का जनक होता है। इसी कारण तर्क का प्रामाण्य नहीं है।

गंगेश की परम्परा का अनुसरण करते हुए तर्क दो प्रकार के समझे जा सकते हैं – एक विषयपरिशोधक तर्क दूसरा व्याप्तिग्राहक तर्क। जैसा कि न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की व्याख्या करते हुए दिनकर भट्ट कहते हैं – तर्क दो प्रकार का होता है एक विषयपरिशोधक तथा दूसरा व्याप्ति का ग्राहक। विषयपरिशोधक तर्क इस प्रकार का होता है – यदि निर्वह्नि होता तो निर्धूम होता' तथा व्याप्ति का ग्राहक तर्क होता है – 'यदि धूम वह्नि का व्यभिचारी होता तो वह्नि से जन्य नहीं होता'।[67] तर्क के इस द्वैविध्य को दृष्टिगत रखते हुए विचार किया जाये तो प्रतीत होता है कि प्राचीनन्याय में प्रमुखतया विषयपरिशोधक तर्क पर ही विवेचन किया गया है। नव्यन्याय में इसके विपरीत प्रमुख रूप से व्याप्तिग्राहक तर्क पर विवेचन किया गया है। यदि तर्क व्याप्ति का ग्रहण कराने में प्रमुख भूमिका निभा सकता है, तो अन्यत्र प्रमाणों के द्वारा भी किसी अर्थ का निश्चय कराने में उपकारक हो सकता है। परन्तु तर्क के द्वारा कभी भी निश्चय पर नहीं पहुँचा जा सकता। इसी कारण उसको प्रमाण नहीं माना जा सकता, परन्तु प्रमाण न होकर भी वह प्रमाण का अनुग्राहक अवश्य होता है। इस प्रकार तर्क की वस्तुतः न्यायवैशेषिकपरम्परा में भी स्वायत्त प्रतिष्ठा नहीं है परन्तु अनुमान की सर्वोपरि प्रतिष्ठा अवश्य है।

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *यद्यपि न्यायसूत्रकार ने अनुमानलक्षण सूत्र 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् – पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टञ्चेति' (न्यायसूत्र 1–1–5) कहते हुए प्रत्यक्षपूर्वक शब्द का प्रयोग नहीं किया है, अपितु तत्पूर्वक शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु तत् शब्द बुद्धिस्थ का परामर्शक होता है तथा अनुमान का लक्षण करने के पूर्व प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है। इस कारण तत्पूर्वक शब्द का प्रत्यक्षपूर्वक यही अर्थ सामने आता है।*
2. *न्यायसूत्र 1–1–40*

3. तर्को ने प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते। न्यायसूत्र वात्स्यायनभाष्य 1–1–1
4. द्रष्टव्य – न्यायसूत्र वात्स्यायनभाष्य 1–1–1
5. द्र. न्यायसूत्रभाष्य 1 –1–40
6. कारणोपपत्तित इति। प्रमाणोपपत्तितः। उपपत्तिः सम्भवः। सम्भवति एतस्मिन्नर्थे प्रमाणमिति भवेदयमर्थ इति। न्यायसूत्रभाष्यवार्तिक पृ. 583, न्यायदर्शन प्रथम भाग, न्यायचतुर्ग्रन्थिका (वात्स्यायनभाष्य, न्यायवार्तिक, तात्पर्यटीका, तात्पर्यपरिशुद्धि सहित) संपादक – अनन्तलाल ठाकुर, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1967
7. तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरम्, अपरिच्छेदकत्वात्। प्रमाणं परिच्छेदकम्, न तर्कः। तस्मान्न प्रमाणम्। द्र. न्यायसूत्रभाष्यवार्तिक पृ.18
8. वहीं
9. ऊहः संशयनिर्णयाभ्यां न भिद्यते इति केचित्। न्यायसूत्रभाष्यवार्तिक 1–1–40, पृ. 583
10. अपरे त्वनुमानं तर्क इत्याहुः। वहीं पृ. 583
11. द्र. प्रमाणलक्षण (इलेक्ट्रानिक संस्करण) www.dvaita.org पर उपलब्ध, पृ. 12–14
12. व्याप्यांगीकारेऽनिष्टव्यापकप्रसंजनं तर्कः। द्विविधमनिष्टं प्रामाणिकहानमप्रामाणिक–कल्पनञ्च। पृ. 18 वहीं
13. अपरे त्वनुमानमेव तर्कं युक्त्यपेक्षं वर्णयन्ति। न्यायसूत्रभाष्यवार्तिक 1–1–40, पृ. 583.
14. यत्तावत् निर्णयसंशयाभ्यां नोहो भिद्यते इति, तन्न, प्रत्ययस्वरूपानबोधात्। वहीं पृ. 584
15. अनवधारणात्मकः प्रत्ययः संशयः किं स्विदिति। अवधारणात्मकः प्रत्यय एवमेवेदमिति निर्णयः। अयं तु संशयात् प्रच्युतः कारणोपपत्तिसामर्थ्यात् न संशये कारणोपपत्तिरस्ति। निर्णयं चाप्राप्तो विशेषादर्शनात्। विशेषदर्शनात् निर्णयो भवति। नचास्मिन् विशेषदर्शनमस्ति। वही
16. एतेनानुमानं तर्क इत्येतत् प्रत्युक्तम् विशेषादर्शनात्। वहीं
17. स्यादेतत्। तर्को नानुमानम्। तर्के हि प्रामाणिकहानादि आपाद्यते। न च तत् साध्यं भवत्यपसिद्धान्तात्, प्रमाणविरोधाच्च, आरोपितलिंगत्वेनासिद्धेश्च। अत उक्तम्– "दूषण" इति। द्विविधमनुमानम् – स्वपक्षसाधनम् परपक्षदूषणञ्च। प्रमाणलक्षण पृ. 20।
18. द्रष्टव्य प्रमाणलक्षण पृ.20
19. न्यायसूत्रभाष्यवार्तिक 1–1–40, पृ. 584
20. नैव लिंगलिंगिसम्बन्धस्मृत्यपेक्षस्तर्कः। वहीं पृ. 584
21. कथं पुनः कर्मनिमित्तता जन्मनः ? भेदवत्त्वात्। कः पुनर्भेदः? सुगतिर्दुर्गतिश्च। न्यायसूत्रभाष्यवार्तिक 1–1–1 पृ. 18
22. किं कारणम् ? पृथिव्यादीनां सर्वपुरुषसाधारणत्वात् पृथिव्यादिगतस्य च नियमहेतोरभावात् सर्वं सर्वात्मकं प्रसज्येत। दृष्टश्च नियमभेदः। तस्मात् कर्म एव नियामकम्। वहीं

23. एतदुक्तं भवति प्रमाणं तत्त्वावधारणाय प्रवृत्तं करणतया इतिकर्तव्यतामपेक्षते। तर्कश्च प्रमाणाविषययुक्तायुक्तविचारात्मा प्रमाणं युक्ते तत्त्वे प्रवर्तमानमनुजानन् प्रमाणमनुगृहणाति। तदनुगृहीतं प्रमाणं तत्त्वनिर्णयाय पर्याप्तम्। न्यायसूत्र–भाष्य–वार्तिक–तात्पर्यटीका 1–1–1 पृ. 62

24. द्रष्टव्य –वहीं

25. अयुक्तप्रतिषेधेन युक्ताभ्युज्ञानं तर्कः। वहीं

26. आहार्य ज्ञान की परिभाषा ही दी जाती है कि 'बाधकालीनेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम्'।

27. तर्को हि प्रमारूपं वा प्रमाणं स्यात् लिंगदर्शनवत्, अप्रमारूपं वा इन्द्रियादिवत्। न तावदाद्यः, तस्याहार्यरूपत्वात्। अतएव न तत्करणस्यापि प्रामाण्यमप्रमाफलत्वात्। तात्पर्यपरिशुद्धि, पृ.141

28. नापि द्वितीयः, स्वविषयव्याप्यविपर्यये ह्यस्य प्रामाण्यमाशंकितम्। तेन च नास्य नियामकः सम्बन्धः। असम्बन्धस्य गमकत्वेऽतिप्रसंगः। तद्विपर्ययस्य तु तेन सह स्वाभाविकः सम्बन्धोऽस्ति। वहीं।

29. सेतिकर्तव्यताकस्यैव सर्वत्र करणत्वात्। इतिकर्तव्यतातद्वद्भावकल्पनायां त्वयं विभागः। वहीं

30. कारणोपपत्तित इति संशयज्ञानोल्लिख्यमानपक्षद्वयान्यतरपक्षोत्थापनानुकूलकारणावलोकनं तत्त्वोत्थापकमाह। अत एवाविज्ञाततत्त्वेऽर्थे भवन्तावपि बुभुत्साविमर्शो न तर्कतां प्राप्नुतः। पृ. 107, न्यायमंजरी, तृतीयखण्ड सं.सं.वि.वि. वाराणसी 1984।

31. प्रमाणानुग्रहं तु विषयपरिशोधनद्वारेण विदधत् तत्त्वज्ञानाय कल्पते। वहीं

32. तेनायं सूत्रार्थः, अविज्ञाततत्त्वे सामान्यतो ज्ञाते धर्मिण्येकपक्षानुकूलकारण दर्शनात् तस्मिन् सम्भावनाप्रत्ययों भवितव्यतावभासस्तदितरपक्षशैथिल्यापादने तद्ग्राहकप्रमाणमनुगृह्य तान् सुखं प्रवर्तयंस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क इति। वहीं

33. यथा वाहकेलिप्रदेशादावूर्ध्वत्वादिविशिष्टधर्मिदर्शनात् पुरूषेणानेन भवितव्यमिति प्रत्ययः। वहीं

34. न खलु स्वमतिपरिकल्पितविकल्पवितानेन प्रत्ययात्मवेदनीयाः प्रतीतयो वरीतुं शक्याः वहीं पृ. 108

35. वहीं

36. जन्मोच्छेददर्शनात् कृतकतत्कारणप्रत्यय इति न तद् हृदयंगमम् । तेन क्रमेण निर्णय एवासौ तत्कारणतथात्वं न तर्क इति। अथवा कार्योदाहरणत्वादस्य तत्रापि संशयनिर्णयान्तरालवर्ती तर्कप्रत्ययों द्रष्टव्यः स उदाहरणं भविष्यति। वहीं पृ. 109

37. सम्भावना चेहाविरोधमात्रम्, न तु संशयः अयुक्तांशस्यापि संशयास्पदत्वात्। अनुज्ञा चेयमेव यत् प्रवर्तमान–प्रमाणानुकूल्येनावस्थानम्। तात्पर्यपरिशुद्धि, पृ. 141–142

38. अनुमाननिदानस्य व्याप्तिज्ञानस्य कारणम्। आदौ तर्क निरूप्यैव पश्चादन्यन्निरूप्यते। न्यायरत्न, मणिकण्ठ मिश्र, नृसिंह यज्वन् कृत द्युतिमालिका व्याख्यासहित, संपादक वि. सुब्रह्मण्य शास्त्री तथा वि. कृष्णामाचार्य, गवर्नमेंट ओरिएंटल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास 1953।

39. द्रष्टव्य पृ. 8–9, न्यायरत्न

40. अथैतदुच्यते – अनुमानविषयपरिशोधकत्वमेव तर्कस्य। इयमेव विषयपरिशुद्धिः–यत् संशयेनोभयकोटिकैव जिज्ञासा जनिता तर्केणैकस्मिन्नंशेऽनिष्टमुपदर्शयता कोट्यन्तरे नियम्येति। वहीं पृ. 10
41. द्रष्टव्य वहीं
42. अथ ज्ञानोपायविषयेच्छासौ, तथापि ज्ञानेष्टसाधनताज्ञानेन सा जन्यते न तु तर्केण। यथा घटोपायविषयेच्छा घटेष्टसाधनताज्ञानेन जन्यते, न तु तर्केण, तथेयमपि। वहीं
43. इन्द्रियादिभिरेव तज्जननान्न तत्र तर्कजन्यता। वहीं पृ. 12
44. अस्तु तर्हि चतुर्थः पक्षः। तथाहि व्याप्तिः सामानाधिकरण्यविशेषः। तस्य च ज्ञानं न तर्केण बिना भवितुमर्हति, व्यभिचारविपर्ययवत् तत्सन्देहेऽपि व्याप्तिज्ञानस्यानुत्पत्तेः। अतस्तन्निवृत्तिद्वारा तर्कस्य व्याप्तिज्ञानकारणत्वमिति। तदसत्। यदि साध्याभाववति साधनं वर्तेत्, कारणत्वं तदा भज्येतेत्येवंविधेन तर्केण व्यभिचारशंकानिवृत्तिः कर्तव्या। न चैवंविधस्तर्कः केवलान्वयिनि सम्भवति, साध्यात्यन्ताभावस्याप्रसिद्धेः। वहीं, पृ. 12–13
45. अपि च, अयमपि तर्को नियमज्ञानाद् भवति। एवं तत्र तत्रापि नियमज्ञाने तर्कापेक्षायामनवस्थितिः। वहीं पृ. 13
46. तथा न तर्कादपि विपर्ययापर्यवसितात् व्यभिचारशंकानिवृत्तिर्भविष्यतीति विपर्ययपर्यवसानं ग्राह्यमेव। तदपि व्याप्तिग्रहणापेक्षम्, व्याप्तिग्रहणञ्च तर्कापेक्षम्। तथा कारणत्वादिकमपि नियमविशेष एव। ततश्च तज्ज्ञानेऽपि तर्कापेक्षायां पुनरनवस्थितिः। वहीं पृ. 13–14
47. वहीं पृ. 14
48 नापि पच्चमः, तस्य व्याप्तिज्ञानसहकृतेन्द्रियजन्यत्वान्न तर्कापक्षेति पूर्वपक्षसंक्षेपः। वहीं पृ. 15
49. अत्रोच्यते – सर्वत्र तर्कादेव व्याप्तिग्रहः। वहीं
50. व्याघातोऽपि तर्कविशेष एवेत्यग्रे वक्ष्यते। वहीं
51 साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगि न वेति शंकयाः केवलान्वयिन्यपि सम्भवात्। व्यापकतासन्देहोऽपि फलतो व्याप्तिसन्देह एवेति न कश्चन विशेषः। वहीं, पृ. 17
52. यद्वा क्वचित्तर्कात्, क्वचिदाप्तोपदेशात्, क्वचिद्व्याघातादपि व्याप्तिज्ञानोत्पत्तौ कारणताननुगमो न दोषः। वहीं पृ. 18
53. तत्र न तावत् व्याप्यारोपेण व्यापकारोप इति तल्लक्षणम्। वहीं पृ. 20
54. वहीं पृ. 20
55. वहीं पृ. 21
56. अव्यापकं चैतल्लक्षणम्। तथाहि–'यद्यतिथिरागच्छेद्भोजयितव्यः स्यात्। स आगच्छति भोज्यते च। यथा वा 'जलं यदि सहकारिभिः सम्बध्यते, तृष्णामुपशमयति च' इत्येवमादीनां तर्काणां यथार्थज्ञानत्वादारोपानुपपत्तिः। वहीं पृ. 24
57. किञ्च, असम्भवि तावदिदं लक्षणं सर्वेषामेव तर्काणां यथार्थत्वात्। वहीं
58. तर्कत्वं ज्ञानात्वावान्तरजातिविशेषः स एव लक्षणं तर्कस्य। वहीं पृ. 25
59. यद्वा व्याप्यारोपत्वावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिककार्यताश्रय व्यापकारोपत्वमेव तर्कत्वम्। वहीं पृ. 26

60. न च सम्भावनात्मकेऽव्याप्तिः, तस्य विभिन्नकोटिकसंशयविशेषत्वेना लक्ष्यत्वात्। वहीं
61. ऊहात्तन्निश्चयः ऊहात् तर्कलक्षणात्तस्याविनाभावस्य निश्चयः। पृ. 41 प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्राचार्य, संपादक – सुखलालजी सांधवी, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, 1939
62. यतोऽस्याप्रामाण्यं गृहीतग्राहित्वात्, विसंवादित्वाद्वा स्यात्, प्रमाणविषय परिशोधकत्वाद्वा ? प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रभाचन्द्राचार्य, द्वितीय भाग, आर्यिका जिनमती कृत हिन्दी अनुवाद के साथ, राजस्थान www.jainelibray.org पर उपलब्ध पृ. 307
63. प्रथमपक्षे साध्यसाधनयोः साकल्येन व्याप्तिः प्रत्यक्षात् प्रतीयते अनुमानाद्वा ? न तावत् प्रत्यक्षात्, तस्य सन्निहितमात्रगोचरतया देशादिविप्रकृष्टाशेषार्थालम्बनत्वानुपपत्तेः। वहीं
64. नाप्यनुमानम् तत्रापि व्याप्तिप्रतिपत्तावनुमान्तरापेक्षायामवस्थाप्रसंगात्। वहीं पृ. 310
65. नापि विसंवादात् स्वविषयेऽस्य संवादप्रसिद्धे। वहीं पृ. 314
66. प्रमाणविषयपरिशोधकत्वान्नोहः प्रमाणमित्यापि वार्तम् प्रमाणविषयस्याप्रमाणेन परि शोधनविरोधात्, प्रमाणं तर्कः प्रमाणविषयपरिशोधकत्वादनुमानादिवत्। प्रमाणं तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकत्वात्...। वहीं पृ. 315
67. तर्कश्च द्विविधः विषयपरिशोधकः व्याप्तिग्राहकश्चेति। तत्र विषयपरिशोधको निर्वाह्निः स्यात् निधूर्मः स्यादित्यादिः। यदि धूमों वह्निव्यभिचारी स्यात् वह्निजन्यो न स्यादित्यादिश्च व्याप्तिग्राहकः। दिनकरी, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली व्याख्या पृ. 491

पुस्तक-समीक्षा

क्या है ? क्या नहीं है ? एक दार्शनिक संवाद : मुकुन्दलाठ*

वरूण कुमार त्रिपाठी

"संसार के समुदय को जानने पर नास्ति–बुद्धि नहीं रहती तथा निरोध को जानने पर अस्तित्व – बुद्धि नहीं रहती।" (गौतम बुद्ध–संयुक्तनिकाय)

'अस्तित्व' दर्शनशास्त्र का एक आधारभूत प्रश्न है – एक ऐसी समस्या जो विचार के सभी स्तरों पर मानव मन को उद्वेलित करती है। दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत जब हम पेशेवर तरीके से 'अस्तित्व' पर विचार करते हैं तो वह केवल एक घटना या वस्तु की सत्ता मात्र नहीं होती, अपितु एक अनुत्तरित प्रश्न भी है जिसके समाधान के प्रयत्न में अनेकों सत्ताशास्त्रीय सिद्धांतों का विकास हुआ है। हम अपने आस–पास जो कुछ भी देखते हैं, उसके 'होने' या 'नहीं होने' से हमारा क्या अभिप्राय हैं ? हम किसे 'होना' कहते हैं और किसे 'नही' होना कहते हैं – एक पुरातन मानवीय जिज्ञासा है। क्या 'होना' एक 'कोटि' है–अर्थात बौद्धिक रचना है, बुद्धि में अनुस्यूत है, अथवा, वस्तुओं का अपना 'गुण' है – उनके अनेक गुणों में से एक है। इस आधारभूत दार्शनिक प्रश्न से जुड़े अनेक–अन्तहीन–प्रश्न भी हैं। किसी एक प्रकार का उत्तर एक संपूर्ण सिद्धांत बन जाता है। इतना ही नहीं, 'होने' से हमारा अभिप्राय क्या है ? होने का प्रयोजन – अर्थवत्ता – क्या है ? कुछ भी 'होना' उद्देश्य परक 'होना' है या उद्देश्यविहीन ? ये सारे प्रश्न मूल प्रश्न से जुड़े हुए हैं। पद्मश्री मुकुन्द लाठ महोदय की पुस्तक इन्हीं प्रश्नों को एक संवाद के माध्यम से प्रस्तुत करती है। संवाद का प्रत्येक भागीदार एक संपूर्ण दृष्टि का – विचार प्रारूप का – प्रतिनिधित्व करता है तथा संवाद में जिस प्रकार सम्मिलित होता है, उसे भाषा की बोधगभ्यता – सरलता – के आधार पर केवल ऊपरी तौर पर नहीं समझा जा सकता। उसमें विचार–विशेष का संपूर्ण इतिहास है, संपूर्ण तर्कनिष्ठा है, अंतदृष्टि है। उसकी एक दिशा भी है। यह कृति निःसंदेह अनन्यसाधारण है, जैसा कि शल्य जी ने प्रस्तावना में कहा भी है।

**प्रकाशक–दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृ. 160, मूल्य 150 रु.*

यद्यपि दार्शनिक लेखन में संवाद–विधि का अनुप्रयोग कोई सर्वथा नई बात नहीं है। प्लेटो की रचनाओं में तथा उपनिषद् और गीता में इस विधि का सफलतम अनुप्रयोग देखा जा सकता है। परन्तु इन संवादों में प्रायः यह देखा जाता है कि कोई एक वक्ता होता है और शेष भागीदार श्रोता मात्र होते हैं। परन्तु लाठ महोदय की इस कृति में संवाद के भागीदार चार पात्र (पृथु, आकाश, अनुभूति और सिद्धर्षि) अपनी–अपनी भूमिका में वक्ता और श्रोता दोनों है। अतः यह संवाद उपदेशात्मक नहीं होकर आत्मचेतन विचार–मंथन है। आत्म चेतन विचार का स्वधर्म उसकी मूलगामिता है जिसमें प्रश्नाकुलता की अनेकानेक त्रिज्यायें मानों एक विचार वृत्त के केन्द्र पर आकर मिलती हैं। लाठ महोदय की इस कृति में संवाद के उत्स अनेकानेक हैं फिर भी उनमें एक मूलगामिता है। एक ऐसे मूल की ओर प्रत्यागमन जो अपने में सिद्ध और साध्य दोनों है।

द्रष्टव्य है कि ''क्या है ? क्या नहीं है'' का प्रश्न साधारण तौर पर अस्तित्व की विवक्षा में उत्पन्न होता है। परन्तु यदि हम कहते हैं कि कोई वस्तु 'अस्तित्ववान्' है तो उसमें अस्तित्व का होना, पूर्वग्रहीत है, वह 'अस्तित्व रखने' के कारण अस्तित्ववान् है। ऐसा कहने में कोई त्रुटि दिखायी नहीं देती है। किंतु क्या उन दार्शनिकों ने, जिन्होनें अस्तित्व का अस्तित्व स्वीकार किया है, भयंकर भूल की है, जैसा कि हाइडेगर कहते हैं कि, स्वतः भाव का भाव नहीं होता (बीइंग इटसेल्फ इज नॉट ए बीइंग) अर्थात् भाव की कोटि (कैटेगरी ऑफ बीइंग) का 'अस्तित्व' पर आरोपण नहीं हो सकता। इसका प्रयोग केवल जो अस्तित्ववान् है उसको इंगित करने के लिए किया जा सकता है। भाव कोटि नहीं है। तो क्या भाव संबंध है ? ऐसा मानने की भी अपनी समस्याएँ हैं – हमें भाव से पूर्व ही कुछ का भाव मानना पड़ेगा। अस्तित्व के निषेध के अतिरेकी प्रारूप– अतीन्द्रिय निषेधवाद – के अनुसार तो वास्तव में कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे 'अस्तित्व' कहा जाए। किंतु इसका तात्पर्य 'भाव' का निषेध नहीं है। तात्पर्य केवल इतना ही है कि मन से बाह्य अस्तित्व नहीं है। अतीन्द्रिय निषेधवाद (ट्रान्सेन्डेन्टल निहिलिज्म) केवल यही कहना चाहता है कि कोई चीज़ अस्तित्ववान् है तो उसमें 'अस्तित्व' पूर्वग्रहीत नहीं है। इससे यह आपातित नहीं होता कि कुछ है ही नहीं– यह मात्र अभाव (निहिल निगेटिवम) नहीं है। 'अस्तित्व' कोटि की उपयोगिता सत्ताओं के वर्गीकरण के लिए है, यह स्वयं 'सत्ता' नहीं है। नैयायिकों की भाषा में कह सकते हैं कि 'अस्तित्व' स्वतः पदार्थ नहीं है, किन्तु पदार्थ अस्तित्ववान् है।

'अस्तित्व' किसी सत्ता का घटक (कान्स्टीटुएन्ट) नहीं है। यह एक बात हुई। इसके विपरीत अरस्तू के चिन्तन में अस्तित्व विधेय है – गुण है। 'अस्तित्व' विशेष है। किन्तु, यह भी कहने का हमारे पास पर्याप्त आधार नहीं है। अस्तित्व का कोई संवेदन हमें प्राप्त नहीं होता, तथापि यदि अस्तित्व को वस्तुओं का गुण माने – एक व्यापक अर्थ में जिसमें कि वे सभी अभिव्यक्तियाँ वस्तुओं के गुण हैं जो उससे सम्बन्धित हैं – तो अस्तित्व भी एक गुण होगा। क्योंकि यदि वह प्रत्ययों का धर्म होता (फ्रेगे) तो वस्तुओं से संबंधित नहीं होता, इस तर्क में सिद्ध–साधन दोष (पेटीशियों प्रिंसिपाई) है अर्थात् जिसे हम सिद्ध करना चाहते हैं उसे पहले से मान लेते हैं। अस्तित्व के साथ यही समस्या है। उसे किसी न किसी अर्थ में माने बिना 'है' या 'नहीं है', की बात नहीं कर सकते। यह एक मनोवैज्ञानिक सुविधा को जन्म देती है, ज्ञानमीमांसीय प्रश्न तो बाद में उठते हैं।

अस्तित्व के विषय में दार्शनिक विचारधाराएँ, चाहे पाश्चात्य हो या प्राच्य, प्रायः मान्यताओं के अतिरेक को छूती हैं। अर्थात् या तो हम अस्तित्व को पूरी तरह नकार देते हैं, या उसे वस्तु की सीमा तक संवेद्य बनाना चाहते हैं। अरस्तू 'भाव' (बीइंग) को सभी अवधारणाओं में रिक्ततम मानते हैं। उसकी कोई अन्तर्वस्तु नहीं है। इसके विपरीत पार्मेनाइडीज ने एकमात्र 'भाव' को ही अस्तित्ववान माना है। इन दोनों प्रकार की मानकीय विचारधाराओं में व्यावहारिक बहुतत्त्ववाद के लिए कोई अवकाश नहीं बचता है। एक सामान्य का भक्षण कर जाता है तथा दूसरा विशेष का। अस्तित्व कहीं इन दोनों के बीच का प्रवाह (ट्रांजिशन) है। अस्तित्व को 'भाव' से अलग समझा नहीं जा सकता, चाहे अस्तित्व प्रत्यय हो या गुण। समस्या यह है कि हम अस्तित्व को एक स्थैतिक (स्टेटिक) अर्थ में देखना चाहते हैं। यह अस्तित्व संबंधी मानवीय कुतूहल की आधारभूत एवं गंभीरतम मनौवैज्ञानिक समस्या है। इस समस्या की समझ में इसका समाधान भी निहित है। भारतीय दार्शनिक इतिहास में जितने भी तथाकथित आस्तिक दर्शन विकसित हुए हैं वे सभी अचेतन भाषायी विवशता के कारण' पाणिनीय व्याकरण' पर आश्रित हैं, जहाँ अस्तित्व को 'भाव–सत्ता' (भू सत्तायाम्) के अर्थ में स्वीकार किया जाता है। यही चिन्तन का स्थैतिक रूप है। इस दृष्टि पर आधारित तर्कशास्त्र 'है' या 'नहीं' है की दुविधा में फंस जाता है तथा इस दुविधा को मध्यम परिहार के नियम द्वारा गौरवीकृत करता है। परिणामतः 'है' और 'नहीं है' को परस्पर व्यावर्त्तक समझा जाता है। इस समूची चिन्तन प्रक्रिया में होना' –

'होने की प्रक्रिया' हमारे चिन्तन–परिधि से बाहर ही रह जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि 'है – प्रवण' एवं दृष्टियों का संयतीकरण (मॉडरेशन) किया जाय।

यदि हम 'होना' – होने की प्रक्रिया' को समझते हैं तो क्या है अथवा क्या नहीं है के प्रश्न ही विसर्जित हो जाते हैं। 'होना' हो रहा होना है। अर्थात् होने की प्रक्रिया में 'है' अथवा 'नही है' कोई सुभिन्न स्वतंत्र घटनाएँ नहीं हैं और न ही होने प्रक्रिया को इनके पदों में मापा जा सकता है। इसे किसी हेगेलीय द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के संभवन (बिकमिंग) से भी नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि वह भी कोरे वैचारिक प्रक्रिया का एक प्रारूप है– एक अन्त है। होने की प्रक्रिया की समझ बोध परक है – प्रातिभ है, प्रज्ञा की अपेक्षा रखता है। होने की प्रक्रिया को बुद्धि की कोटियाँ माप नहीं सकती, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह प्रक्रिया रहस्यात्मक या अनुभवातीत है। अपितु, हम तथ्यों को बुद्धि के पदों में ही देखने के प्रति आग्रहशील हैं। होने की प्रक्रिया की समझ एक दृष्टि प्रदान करती है जिससे भाव में अभाव भी अन्तर्निहित दीखता है तथा अभाव में भाव की आसन्न सम्भावना।

'है – प्रवण' एवं 'नहीं है– प्रवण' दृष्टियों का संयतीकरण केवल सत्तामीमांसीय या ज्ञानमीमासीय दृष्टि से ही आवश्यक नहीं है, अपितु मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक कारणों से भी आवश्यक है। किसी भी ज्ञानमीमांसा को इतना पूर्ण होना चाहिए कि वह अपने प्राग्–ज्ञानमीमांसीय मनोवैज्ञानिक आधारों के प्रति सचेत हो तथा उसे इस सीमा तक उत्तरदायी होना चाहिए आधारशिला रखी जा सके। जहाँ 'है', एवं 'नहीं है' के पीछे की मनोदशाओं कि उसके उपर एक स्वाख्यात नैतिक जीवन की बात है, हम जगत् के प्रति साकांक्ष होकर उसे जानना चाहते हैं, इसलिए 'है', अथवा 'नहीं है', की मिथ्या दृष्टि से बाहर नहीं निकल पाते। 'है' हमारी अपेक्षा को – भोग को, चित्रित करता है तथा 'नहीं है', निराशा को। अस्तित्व मनुष्य का अवचेतन लोभ है। 'है' को दखने वाली हमारी इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हैं अपितु 'कामगुण' हैं। यही उनका प्राग् – ज्ञानमीमांसीय स्वरूप है। ' है ' का प्रश्न एक अधूरा प्रश्न है, उसके प्रति कुतूहल अर्द्ध – ज्ञानमीमांसीय (सेमी–एपिस्टेमिक) है। 'है' के प्रति निश्चयात्मक निर्णय उसके गतिमान स्वरूप को जानने में बाधा है तथा इस प्रकार के निर्णय–समूहों से बनी ज्ञानमीमांसा और उस पर आधारित नैतिक जीवन भी उसी प्रकार आग्रहशील–नियमवादी हो जाता है। अस्तित्व के प्रति आग्रहशील दृष्टियाँ समाज में हिंसा को जन्म देती हैं। प्रत्येक हिंसा

के पीछे क्या है अथवा क्या नहीं है कि प्रति ऐसे ही कुछ स्थैतिक विश्वास होते हैं। अतः एक समग्र–स्वाख्यात नैतिक जीवन का प्रभात 'है' के भग्नावशेषों पर ही हो सकता है।

पाश्चात्य दर्शन में अस्तित्व को बुद्धि का आरोपण मानने वाले काण्टीय विचारधारा के समर्थक वस्तुवादियों के दावे को नकारते हैं कि अस्तित्व वस्तु में अन्तर्निहित है। यद्यपि वे यह नहीं कहते कि 'अस्तित्व' का आरोपण शून्य में या बिना कुछ के किया जाता है। किंतु जो यह मानते हैं कि 'अस्तित्व' वस्तु में अन्तर्निहित है, वे यह नहीं कहते कि 'अस्तित्व वस्तु में केवल अन्तर्निहित मात्र नहीं है अपितु अस्तित्व वस्तु से औपमानिक रूप से (एनलॉजिकली) संबंधित है। वह वस्तु में विभक्त है। मोटे तौर पर परम्परागत पाश्चात्य दर्शन इन्हीं दो पाटों के बीच झूलता है– या तो अस्तित्व को गुण माना जाता है या बुद्धि का आरोपण। पहली अस्तित्व की अरस्तूवादी कोटि (सिन्–कैटेगोरियन् : कैटेगरी ऑफ बींइग) है तथा दूसरी उसकी काण्टीय कोटि (वर्स्टेण्डस्–कैटेगोरियन् : कैटेगरी ऑफ अंडरस्टैंडिग) है । फेनामेनालॉजिकीय प्रयत्न भी इस दुविधा का कोई निर्वहनीय समाधान करते हुए दिखायी नहीं देते। काण्ट के अतीन्द्रिय विघटन की प्रक्रिया भाव को वास्तविक विधेय नहीं मानती, अपितु वस्तु के 'क्या है' (व्हाट–नेस) से संबंधित गुण मानती है। जैसा कि रसेल ने इसे 'इंगित करने की योग्यता'– यह होना, (दिस–नेस) या 'वह होना' (दैट–नेस) कहा है। समकालीन चिंतक बचवरोव ने उक्त अतिरेकी मतों के स्थान पर भाव को सम्बन्धात्मक धर्म (रिलेशनल प्रापर्टी) कहकर उनमें समायोजन स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार किसी वस्तु का 'अस्तित्व' उसकी आनुभविक नियमों के तहत 'ऐन्द्रिक प्रदत्तता' पर मन का 'भवारोपण' (बीइंग–पॉजिटेड) है। यह भावारोपण वस्तु में उपस्थित किसी गुण या घटक के संवादी नहीं हैं। माइनांग ने भी स्वीकारा था कि अस्तित्व काल्पनिक नहीं है, वस्तु से सम्बन्धित है, किन्तु माइनांग का आशय सीमित वस्तुओं से नहीं था। अर्थात् हम यह मानते हैं कि अस्तित्व की बात वस्तुओं के ही परिप्रेक्ष्य में की जाती है, परन्तु उसका आधार वस्तुएँ नहीं हैं अपितु एक प्रत्ययात्मक निर्णय है। माइनांग के लिए व्यक्ति का अस्तित्व बेमानी है, किन्तु यदि राइस के 'व्यक्ति' की परिभाषा– 'अनिवार्यतः सुभिन्न', को माना जाय, जिसका विघटन एक 'दृष्टान्त' या 'स्थानापन्न' में नहीं किया जा सकता, तो माइनांग एवं राइस में से कोई एक ही सही हो सकता है, दोनों एक साथ नहीं। यही अतिरेकी दृष्टियाँ हैं – दो अन्त हैं।

भारतीय शास्त्रीय चिन्तन भी किसी न किसी अर्थ में इन्हीं प्रकार की दुविधाओं में उलझा हुआ चिन्तन है। वेदान्ती सत्ता की कोटियों का प्रबन्धन करता है तथा 'वृत्ति' को अपने ढंग से परिभाषित करते हुए विषयी एवं विषय के द्वन्द्व को मिटाकर भाव सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देना चाहता है। अन्तःकरण स्वतः बाहर जाता है तथा वस्तु के धर्मों को ग्रहणकर वृत्तिज्ञान का निर्माण करता है। प्रथम दृष्ट्या ऐसा प्रतीत होता है कि विषयिता एवं विषयता के प्रश्नों का समाधान हो गया, भाव को समझने की एक समग्र दृष्टि प्राप्त हो गयी। किन्तु, व्यावहारिक बहुलता का कोई सर्वग्राह्य समाधान वेदान्ती के लिए आकारायण से बाहर ही रह जाता है। पुनश्च, वृत्ति के विषय में योग एवं न्याय दर्शन की अपनी भिन्न अवधारणाएँ हैं। नैयायिकों का वस्तुवाद भी पदार्थों की बाह्यता का एक आग्रह ही है और कोई भी तर्क, कोई भी प्रमाण, इससे समझौता नहीं कर सकता। 'प्रास्थानिक चिन्तन' के नाम पर हम आग्रहों का पोषण करते आ रहे हैं। अर्थात् यहाँ भी वे ही अतिरेकी दृष्टियाँ हैं – एक तरफ प्रत्येक ज्ञेय–अभिधेय को संवेद्य पदार्थ की हद तक ले जाने का उपक्रम तथा दूसरी तरफ प्रत्येक संवेद्य के मिथ्यात्व की घोषणा। उक्त परिप्रेक्ष्य में दिङ्नाग प्रथम भारतीय विचारक है जो समस्या को गम्भीरता से ग्रहण करते हुए आधारभूत प्रश्न पर विचार करते हैं कि आखिर हम क्या जान सकते हैं। प्रश्न वस्तुओं के स्वरूप का, अस्तित्व का, या उनकी अतीन्द्रियता का नहीं है, अपितु उनके विषय में हमारा जो कुछ भी जानना है, वह क्या है। हमारा जानना क्या जानना है। प्रश्न यह नहीं है कि वस्तुएँ मन से स्वतंत्र हैं या मन पर आश्रित, अपितु, मन से स्वतंत्र किसी भी वस्तु का–भाव का, कोई ज्ञानात्मक महत्त्व (कॉग्निटिव स्टेटस) नहीं हो सकता। इस परिप्रेक्ष्य मे दिङ्नाग का 'प्रत्यक्ष' के विषय में दिया गया स्पष्टीकरण (प्रत्यक्षकल्पनापोढ़ं नामजात्यादिसंयुतम्) समूचे विश्व के दार्शनिक चिन्तन में एक मील का पत्थर है। अर्थात् प्रत्यक्ष विशुद्ध संवेद्यों का ज्ञान है जिसपर किसी बौद्धिक तत्त्व का आरोपण न किया गया हो। यदि इस परिभाषा के गूढ़ार्थ को देखा जाय तो यह समूचे विश्वदर्शन के सम्मुख एक प्रबल दावे को प्रस्तुत करती है। जिसे हम भाव या अस्तित्व कहते हैं, जिसे अर्थ (मीनिंग) कहते हैं, वह एक बौद्धिक तत्त्व है। किन्तु, स्पष्टतः संवेद्य उससे स्वतंत्र एवं पूर्ववर्ती हैं। अर्थात् हम अस्तित्व या पदार्थ का प्रश्न उठाकर एक बौद्धिक प्रश्न उठा रहे हैं, यह 'तथ्यों से सम्बन्धित प्रश्न' नहीं है। यह स्पष्टीकरण एक तरफ 'प्रत्यक्ष' का मनौवैज्ञानिक एवं ज्ञानमीमांसीय अन्धविश्वासों से उद्धार करता है तथा दूसरी तरफ अन्य सभी अवधारणात्मक प्रश्नों को 'बौद्धिक तत्त्व' की कोटि में रखता

है। दिङ्नाग की दृष्टि का सौन्दर्य यह है कि वह संवेद्य एवं बौद्धिक आरोपण को दो पाटों में नहीं बांटता अपितु उसे एक ही ज्ञानात्मक प्रक्रिया (सिंगुलर कॉग्निटिव एपिसोड) के रूप में प्रस्तुत करता है, प्रत्यक्ष की पवित्रता को बचाये रखते हुए। अब यह निरीक्षण का विषय है कि जब हम अस्तित्व के विषय में इन्द्रियों द्वारा प्रदत्त सूचना की बात करते हैं – एक तरफ इन्द्रियाँ हमें धोखा देती हैं तथा दूसरी तरफ उनकी सूचना को नकारा भी नहीं जा सकता– तो हमें यह समझना चाहिए कि इन्द्रियों की सूचना की विश्वनीयता या उनका धोखा बुद्धि के आरोपणों की प्रक्रिया पर निर्भर करता है, इन्द्रियों का प्रत्यक्ष तो ज्ञानात्मक रूप से निरपेक्ष (एपिस्टेमिक सेक्युलर) ही है। उसमें अस्तित्व का प्रश्न भी नहीं है।

पुनश्च, किसी भी वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान हमारे 'बोध' में कुछ भी गुणात्मक रूप से जोड़ता नहीं है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि वस्तुओं या जगत् का अस्तित्व बोध के लिए निरर्थक है। परन्तु प्रश्न अस्तित्व का नहीं अपितु 'स्वभाव' का है, जगत् के 'धर्म' का है। वस्तु–जगत् के अथवा 'मैं'– 'आत्म'के स्वभाव एवं उससे हमारे अन्तरसम्बन्धों का ज्ञान ही उससे मुक्ति का मार्ग है। स्वभाव 'निःस्वभावता' है तथा धर्म 'अनित्यता' है। अनित्यता प्रक्रिया–बोध है। यह 'है' एवं 'नहीं है' से भिन्न जाति की है। इस बोध तक हम ऐन्द्रिक ज्ञान के सहारे कभी नहीं पहुँच सकते। लाठ महोदय ने ऐन्द्रिक ज्ञान की सीमा को अपनी पुस्तक में अत्यंत निपुणतापूर्वक दर्शाने का प्रयत्न किया है (पृ.16) तथा इस बात को बड़ी मौलिकता के साथ संकेतित किया है कि हमें बुद्धि का सहारा क्यों लेना पड़ता है। किन्तु, इन्द्रिय एवं बुद्धि के आधार पर हम किसी सामान्य निष्कर्ष की ओर पहुँचते हुए दिखायी नहीं देते हैं। वस्तुतः मानव जीवन–प्रक्रिया में इन्द्रिय एवं बुद्धि का अपना–स्वयं का, कोई उद्‌देश्य या एजेण्डा नहीं है। वे हमारी 'चाहना' के अनुरूप कार्य करती हैं। इस प्रक्रिया की समझ एक अन्यतर मानवीय क्षमता (फैकल्टी या, कोशेष्ट) है, जिसके आधार पर दोनों का समुचित ज्ञान होता है। इन्द्रिय चाहना' के अनुरूप क्रियाशील होती है (चाहे चाहना का विषय कितना ही क्षुद्र या गौरवपूर्ण क्यों न हो) तथा बुद्धि उसके पक्ष में तर्क देकर तथाकथित 'दर्शन' को जन्म देती है। इसीलिए, कतिपय मनीषियों ने तर्क की अप्रतिष्ठा कही है (बादरायण)। तर्क चिन्तन के स्थैतिक रूप का ही प्रारूपीकरण करता है, प्रक्रिया या स्वभाव का नहीं। ऐसी स्थिति में इस बात के प्रति सचेत होना आवश्यक है कि इन्द्रिय एवं बुद्धि हमें कुछ 'क्यों' बताते हैं, न कि 'क्या' बताते हैं।

अस्तित्व के विषय में हमें आधुनिक सृष्टि विज्ञान (कास्मोलॉजी) या जैवशास्त्रीय विकासवाद से भी कुछ मदद नहीं मिल सकती। 'ब्रह्माण्ड के विस्तार' का तथ्य किसी निश्चित तथ्य को आपातित नहीं करता। इसी विस्तार के आधार पर महाविस्फोट सिद्धान्त (बिग बैंग थ्यिरी) का भी समर्थन किया जाता है (स्टीफन हाकिंग) तथा इसी सूचना के आधार पर स्टीडी–स्टेट–थियरी (जगत्‌नित्य है) का भी संपोषण किया जाता है (जयन्त विष्णु नर्लीकर एवं फ्रेड होएल) और जबकि दोनों परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं। विकास के जैव शास्त्रीय सिद्धान्त जाति एवं व्यक्ति (जीनस एण्ड स्पीशीज) के अरस्तूवादी अवधारणा से मुक्त नहीं हैं। यही चिन्तन का स्थैतिक रूप है। विकासवादी विकास को मानते हुए भी उसे स्थैतिक पदों में परिभाषित करते हैं। आधुनिक सृष्टिविज्ञान यदि हमें यह बता ही दे कि सृष्टि कब हुई एवं कैसे हुई, तो भी इस प्रश्न का उत्तर शेष रहता है कि सृष्टि या उसकी वस्तुएँ हमारे लिए समस्या हैं या सहयोगी हैं। इस क्रम में चिन्तन की एक दिशा प्रयोजन की खोज करती है तथा दूसरी जगत् से मानवीय अन्तरसम्बधों से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक समस्या का समाधान चाहती है। प्रथम, जगत् की – ब्रह्माण्ड की व्यवस्था से आश्चर्य चकित दृष्टि है और वह यह भूल जाती है कि व्यवस्था भी बुद्धि की ही समझ है। जिसे हम व्यापक व्यवस्था या ऋत (कॉस्मिक आर्डर या कॉस्मास) कहते हैं उसे ही नीत्शे ने व्यापक अराजकता (केयॉस या ग्रास एनार्की) कहा है। अर्थात् यह हमारे देखने पर निर्भर है। दूसरे प्रकार की दृष्टियाँ यान्त्रिक सृष्टि प्रक्रिया (मेकेनिकल कॉस्मोलजी) की निरूपादेयता को समझती है तथा साथ ही साथ प्रक्रियात्मक सृष्टिविज्ञान (प्रॉसेस कास्मोलाजी) को समझकर उसमें मानवीय दुःखों से मुक्ति का मार्ग भी देखती हैं। पहले प्रकार की सृष्टि–प्रक्रिया को इसीलिए भारतीय मनीषा ने सिरे से नकार दिया है। आधुनिक विज्ञानों की विडम्बना यह है कि वे अभी भी उसी प्रकार के सृष्टिविज्ञान– यान्त्रिक सृष्टिविज्ञान, को स्थापित करने में लगा है। ऐसा विज्ञान प्रयोजन सम्बन्धी (टीलियोलॉजिकल) प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता। उसकी सम्पूर्ण चिन्ता विघटनवादी (रिडक्शनिस्ट) है– अर्थात मानवीय सत्यों को भी वस्तु का रूप देकर समझती है, वस्तु में विघटित करती है। उसमें 'लॉगॉस' तो है, किन्तु 'टेलॉस' की संभावना दूर–दूर तक नहीं है। दूसरी ओर औपनिषद् – वेदान्तीय दृष्टियाँ भी विघटनवादी हैं, क्योंकि वे वस्तु को 'अह' में या उसके विस्तार में विघटित करती है। दोनों ही दृष्टियाँ एकांगी हैं। वे प्रक्रिया का दर्शन नहीं कर पातीं। अस्तित्व प्रक्रिया है, घटना नहीं। 'है' या 'नहीं है' की कोटियाँ मानवीय

मेधा के ठहराव (स्टैग्नेशन) का परिणाम है। ये तथ्यों के मूल्याँकन की मानक नहीं हो सकतीं।

जहाँ तक नित्यता या त्रिकालाबाधितता को अस्तित्व की शर्त मानने की बात है, यहाँ भी हम बड़ी भूल करते हैं। इसके लिए परिवर्तनशील जगत् में 'कुछ तो अपरिवर्तनशील' होगा' की अभीप्सा के पीछे के मनोविज्ञान को समझना आवश्यक है। साथ ही दार्शनिक दृष्टि से यह भी देखना आवश्यक है कि हम काल के अन्तर्गत नित्यता की बात कर रहे हैं या कालातीत नित्यता की, या किसी चीज के आदि और अंत को न जानने के कारण उसे नित्य मानने की भूल कर रहे हैं। जहाँ तक तर्कों एवं प्रमाणें की बात है, वे कालातीत नित्यता का निरूपण नहीं कर सकते, न ही उसका संकेत कर सकते हैं, क्योंकि अभी तक किसी ऐसी तार्किक कोटि की खोज नहीं की गई है जो काल को पूर्व प्रक्षित नहीं करती हो। जहाँ तक नित्यता के कालातीत स्वरूप की बात है, वह एक प्रातिभ भ्रम है, क्योंकि किसी चीज को नित्य कहकर हम उसे काल के पदों में ही तो मूल्याँकित कर रहे होते हैं। साथ ही किसी चीज की नित्यता उसके प्रामाणिक होने की शर्त नहीं है। नित्यता एवं प्रामाणिकता दो अलग–अलग प्रश्न हैं। हमारी खोज एवं चिन्तना का विषय तो यह होना चाहिए कि क्या 'क्या है' का ज्ञान मनुष्य की चेतना के उत्थान– मानवीय रूपान्तरण (ट्रान्सफार्मेशन) के लिए उपादेय है, अथवा नहीं । मानवीय जिज्ञासा का प्रेरक मनुष्य की पीड़ा है, उसका दुख है। इस पीड़ा से पलायन हेतु मनुष्य पीड़ा के कारणों की खोज के बजाय 'क्या है' के – 'तत्त्व' के, प्रश्नों में उलझ जाता है – यही तत्त्वमीमांसा का आधार है (पृ.33)। यह जिज्ञासा की दिशा–विक्षेप है – मूल प्रश्न से विचलन है। हम नित्य की कल्पना भी जगत् की अनित्यता के परिप्रेक्ष्य में ही करते हैं, एक तरह से अनित्यता को अस्वीकार करने की दशा में करते हैं। मनुष्य की शाश्वत जीवन की खोज जगत् की इसी अनित्यता के प्रति रागात्मक आक्रोश हैं। यह जगत् की समझ नहीं, अपितु जगत् से पालयन है। जगत् के रहस्यों को जानने की नासदीय सूक्त की उड़ान तथ्यों को नहीं देख पाने की बेबसी है तथा उसकी हेगेलीय व्याख्या में दिये गये 'प्रेम' के रूपक (पृ. 115) सन्दर्भ बाह्य प्रतीत होते हैं। यदि हम नित्यता के समर्थन में उसके बिना नैतिक जीवन की असम्भावना की दुहाई दें, तो यह भी कोई सार्थक पहल नहीं होगी, क्योंकि ऐसी नैतिकता नित्यजीवन के लोभवश आत्मारोपित नैतिकता होगी। नैतिकता का वास्तविक आधार तो किर्केगार्द की 'मृत्यु की प्रामाणिक चेतना' ही हो सकती है।

यदि हम इन सारे प्रश्नों के आधार की ओर लौटते हुए 'मैं'– 'आत्म', के अस्तित्व को जानने हेतु 'मैं कौन हूँ' का प्रश्न उठाते हैं तो यहाँ भी हमारा प्रमाद यह है कि हम 'मैं' को पूर्वग्रहीत कर लेते हैं। 'मैं कौन हूँ' के रूप में उठाये गये किसी भी प्रश्न का पर्यवसान 'मैं'की प्रतिष्ठा में ही होगा, चाहे उसका स्वरूप जो भी हो और उसके पक्ष में जो भी तर्क दिया जाये–देकार्तीय अथवा याज्ञवल्कीय। प्रश्न उठाने का प्रमाणिक ढंग तो यह होना चाहिए कि 'मैं' क्या ? अर्थात्–'मैं' की रचना किन दशाओं में होती है ? 'मैं' का कोई एकाश्मक (मोनोलिथिक) रूप नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयं चेतना –चेतन प्रक्रिया, का उत्पाद है, विक्षेप (डिस्पोजिशन) है। वह अलग–अलग दशाओं में अलग–अलग रूप का है । बिडम्बना यह है कि मानव द्वारा निर्मित सभी विद्याओं की, कला के रूपों की, सभ्यताओं की, साहित्य एवं दर्शन की अभीप्सा 'मैं' की 'आत्म' (सेल्फ) की प्रतिष्ठा है, उसका विघटन नहीं है। आत्म का विघटन भय देता है। इसी विभीषिका से बचने हेतु हम आत्म का आलम्बन छोड़ नहीं पाते और उसके गौरवीकृत रूपों की कल्पना कर स्वयं को सान्त्वना देने का सफल अथवा विफल प्रयत्न करते हैं। वह आत्म बार–बार बिखरता ही जाता है और हम पुनः पुनः तर्क का, विचारों का, धारणाओं का आलम्ब लेकर उसका जीर्णोद्धार करते रहते हैं। हमें आत्मा एवं मन के उपनिषदीय विभाजन (पृ. 130) से बाहर निकलकर अपने जानने की प्रक्रिया का निरीक्षण करना होगा। ज्ञान केवल 'ज्ञान की प्रक्रिया' को आपातित करता है, दृष्टि 'दृष्टि की प्रक्रिया' को ; आत्म 'होने की प्रक्रिया को' कार्य 'कारण' को और मैं 'अहं' को आपादित करता है, किसी ज्ञाता, द्रष्टा, आत्मा, कर्ता या ब्रह्म को नहीं। हम विचारों की 'सत्ता' की बात तो करते हैं – विचार – स्वातंत्र्य की भी (पृ.140), किंतु बोध – स्वातंत्र्य का प्रश्न उठाना अब भी शेष है। बोध – स्वातंत्र्य जगत् – व्यवस्था (ऋत) सापेक्ष नहीं है, अपितु जगत्–व्यवस्था उसकी कारणात्मक व्यवस्था स्वयं बोध सापेक्ष है। दृष्टि के इन वैकल्पिक प्रारूपों को संज्ञान में लिए बिना 'है' की बात करना 'अहं' की प्रतिष्ठा के लिए बुद्धि की एक पूर्वनियोजित साजिश होगी, 'आत्म' की उपनिषदीय चेतना की पुर्नप्रतिष्ठा मात्र होगी।

हम आत्मचेतना – आत्मोत्थान के विषय में गम्भीर चिंतन करते हैं और इस क्रम में प्रायः आत्मज्ञान के नाम पर स्वयं को किसी वृहद् मान्यता से ढक लेते हैं। आत्मज्ञान आत्म के प्रदत्त आनुभविक रूपों का स्थानापन्न ढूँढना नहीं है अपितु उसके तथ्यों से रूबरू होना है– वे जैसे हैं वैसा ही

जानना है। यही रूपान्तरण है, क्योंकि मन की प्रदत्त असमीक्षित प्रक्रिया ऐसा नहीं कर रही होती है। मन का स्वयं अपनी रचनाओं से मुक्त होना ही उसका रूपान्तरण है – चित्र सम्पदा है। 'क्या होना चाहिए' का उत्तर भी इसी रूपान्तरण में निहित है। पशुता एवं मानवता की कसौटी भी यही है। चूँकि मनुष्य में सारी पशुताओं का रूप दीखता है इसलिए समझ में नहीं आता कि उसे कौन सा पशु कहें किंतु इन पशुताओं से ऊपर उठने की संभावना ही मानवता की संभावना है। मनुष्य एक 'मानव होने योग्य पशु है। मानव होने का अर्थ देवत्व या ब्रह्मत्व की प्राप्ति नहीं अपितु उसमें जो 'मानवीय' है उसकी ओर लौटना है – आदिम याज्ञवल्कीय चेतना का रूपान्तरण है।

अब हम यदि उपर्युक्त प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में लाठ महोदय की कृति पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि अस्तित्व या सत्ता से सम्बंधित इन समस्याओं को रूपायित करने का इतना सुन्दर प्रयत्न संप्रति अन्यत्र दिखायी नहीं देता। इस विषय पर दार्शनिक जगत् में विचारकों एवं विद्वानों की कमी नहीं है, परन्तु एक सबल शिक्षाविद् के रूप में बोध करा देने की – संप्रषित करने की , क्षमता से सम्पन्न समग्र दृष्टि रखने वाले विरले ही हैं और लाठ महोदय उनमें से एक हैं जो लिखते समय इस बात का ध्यान रखते हैं कि जो लिखा जा रहा है वह किसके लिए लिखा जा रहा है और उस लेखन में विचार का पुरूषार्थ क्या है। संवाद का प्रस्तुतीकरण, उसका शिल्प एवं योजना न केवल विषयवस्तु पर लेखक के अधिकार का प्रमाण है अपितु लिखने के उद्देश्य के प्रति सचेतनता एवं दर्शन विषय में अल्प प्रशिक्षित या जिज्ञासु समुदाय के प्रति लेखक की संवदेनशीलता का प्रतिमान भी प्रस्तुत करता है। यह बौद्धिकता से ऊपर की मेधा है। प्रश्न यह नहीं है कि इस विषय को किसी अन्य रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है अथवा इसका यही प्रारूप सुगम है, अपितु यदि पाठक के मन में इसके प्रति असन्तोष भी उत्पन्न होता है तो कम से कम इतना लाभ तो अवश्य हुआ कि हमारी दार्शनिक चेतना इसके निमित्त क्रियाशील हो उठी। आज के विश्वविद्यालयीय पठन–पाठन में इसी प्रकार की कृतियों के अभाव में दर्शनशास्त्र के अध्ययन में रूचि विरल होती दिखायी दे रही है तथा दार्शनिक चेतना बोझिल होती जा रही है। लाठ महोदय की इस अनुपम कृति में विषय की गम्भीरता के चलते कतिपय स्थानों पर भाषा कृत्रिम एवं उलझी हुई दीखती है, किंतु विषय में पाठक के चिन्त को न केवल बांधे बल्कि तत्पर भी बनाये रखती है। यही लेखन की सफलता है। साथ ही अस्तित्व या सत्ता से संबंधित

प्राच्य–पाश्चात्य दर्शनों में विकसित हुई अनेकानेक विश्रृंखलित विचारधाराओं का सफल क्रमीकरण (सीक्वेंसिंग) करती है। अतः यह पुस्तक दर्शन–जगत् से सरोकार रखने वाले सभी व्यक्तियों के लिए पाठनीय है इसका शिक्षाशास्त्रीय (पेडागॉजिकल) महत्त्व इसके अन्य सभी पक्षों पर भारी पड़ता दिखायी देता है। इस कृति का अन्यान्य भाषाओं में अनुवाद भी अत्यंत लाभकारी हो सकता है।

पुस्तक के शीर्षक को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह सत्तामीमांसा का ग्रंथ है, किंतु निपुणतापूर्वक परीक्षण करने एवं इसके आद्योपान्त संवादों पर समग्र दृष्टिपात करने से यह समझ में आता है कि, उक्त मूल प्रश्न से जुड़े अनेकोनेक प्रश्नों को कितनी कुशलतापूर्वक इस कृति में ग्रथित किया गया है। सत्ता से जुड़े प्रश्न केवल सत्तामीमांसीय या सत्वमीमांसीय नहीं हैं अपितु वे ज्ञानमीमांसा से भी पूर्णतः स्वतंत्र प्रश्न नहीं हो सकते। प्रकृत प्रसंग में ज्ञान की प्रामाणिकता के प्रश्नों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। पुनः वस्तु की सत्ता उसकी उपयोगिता के प्रश्न से भी अलग नहीं हो सकती है (पृ.25)। हम 'प्रयोजन' के प्रश्न को भी सत्ता से विसंबंधित प्रश्न नहीं कह सकते (पृ.125)। यदि हम इन सारे प्रश्नों को विचार की रचना मानते हों तो भी यह जानना आवश्यक है कि विचार किन–किन शर्तों–और किन–किन तथ्यों, पर आधारित है। साथ ही विचार स्वातंत्र्य कब हमारी जिज्ञासा–ज्ञान–पिपासा की दृष्टि में सहायक है और कब कल्पना मात्र है यह भी जानना मूल प्रश्न से अनुस्यूत प्रश्न है (पृ.140)। होने के प्रति जिज्ञासा केवल 'होने की जिज्ञासा नहीं अपितु 'होने के अर्थ' की भी जिज्ञसा है साध्य साधन की दुविधा का समाधान है। इन प्रश्नों को यदि हम तकनीकी पदों में प्रस्तुत करें तो हम स्पष्टतः सत्तामीमांसा, ज्ञानमीमांसा,प्रयोजनमीमांसा नीतिमीमांसा, मनोविज्ञान आदि सभी के सहज अन्तरसम्बन्धों को भी समझ सकते है, जिनका प्रस्तुत कृति में प्रौढ़तापूर्वक गुंफन किया गया है। मैं अत्यंत आवश्यक समझता हूँ कि इन अन्तरसम्बन्धों के प्रति पाठकों को सचेत किया जाय, जिनकी उपेक्षा कर देने पर अनेक प्रकार के शास्त्रीय भ्रम अनसुलझे ही रह जाते है।

दर्शन विभाग
माता वैष्णव देवी विश्वविद्यालय
कटरा - जम्मू

ISSN 0974 0053